भारतीय ग्रन्थमाला—संख्या २०

अपराध-चिकित्सा

[जेल, कालापानी और फांसी !]

लेखक

विश्व वेदना, नागरिक शास्त्र, भारतीय जागृति और
भारतीय शासन आदि के
रचयिता

भगवानदास केला

प्रकाशक

व्यवस्थापक, भारतीय ग्रन्थमाला, वृन्दावन

एक हजार प्रतियां } प्रथम संस्करण सन् १९३६ ई० { मूल्य डेढ़ रुपया

प्रकाशक :—
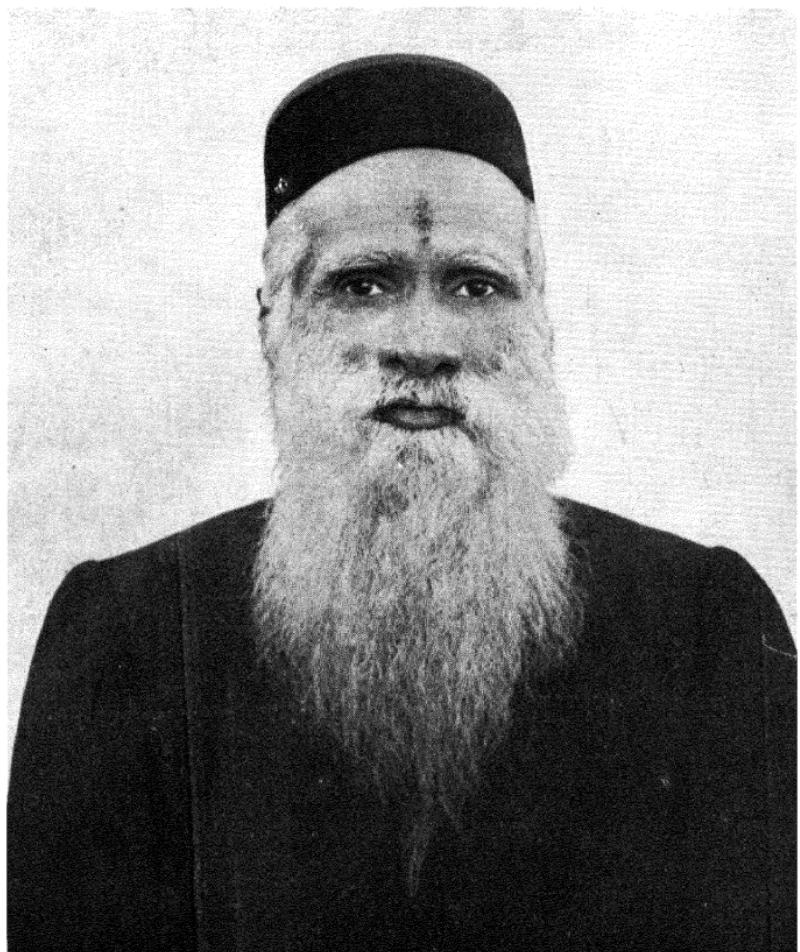
भगवानदास केला

व्यवस्थापक,

भारतीय ग्रन्थमाला,

वृन्दावन।

मुद्रक—

नारायन प्रसाद,

नारायण प्रेस,

प्रयाग।

स्वर्गीय पंडित बलराम जी दुबे

स्वर्गीय पंडित बलराम जी दुबे की पुण्य स्मृति में
[लेखक की श्रद्धाञ्जलि पुस्तकान्त में देखिए]

निवेदन

एक वृद्धा बैठी है, उसका शरीर दुर्बल है, वस्त्र मैले और फटे-पुराने हैं। उसका कोई घर-बार नहीं, सड़क, चौराहा, मकान, छज्जे के नीचे की जगह, या कोई खंडहर, जहां मौका देखती है, वहीं बैठ जाती है, निरवलम्ब और अनाश्रित है, उसके भोजन की कोई व्यवस्था नहीं; जो कुछ, जैसा कुछ, और जहां-कहीं मिल जाता है, उसी का उपभोग करती हुई किसी प्रकार वह अपना समय काट रही है। किन्तु उसका यह परिचय तो आन्तरिक हुआ। सांसारिक दृष्टि में वह अपराधिनी है। उसके सम्बन्ध में यह आम शिकायत है कि वह अन्न चुरा कर खाती है। किसी किसी का कथन है कि वह बच्चों को भी बहकाती है। संसार ठहरा ! जिसकी जैसी धारणा बन जाए ! हां तो, जो भी आता है, उसे देखकर अपशब्द कहता है, कोई कोई तो उस पर पत्थर या डंडे से भी प्रहार कर बैठता है। एक दिन एक महात्मा उधर से आ निकले। सब सोचते हैं कि देखें महात्मा जी क्या कहते हैं। उन्हें आशा है कि वे उनके कार्य का अनुमोदन ही करेंगे, अपराधी का पक्ष न लेंगे। महात्मा कहता है कि जिसने कभी झूठ न बोला हो, बेईमानी न की हो, वही इस स्त्री पर प्रथम प्रहार करे। सब आदमी एक दूसरे का मुंह देखते हैं; प्रथम प्रहार कौन करे। किसी के पास महात्मा जी की बात का कोई उत्तर नहीं है। और, प्रहार करने की कामना भी कुंठित हो गयी है।

इससे मिलती-जुलती कथा बहुतों ने सुनी होगी। पर कितने हैं, जो इसके मर्म पर विचार करते हैं। आज दिन जब कोई व्यक्ति चोरी या बेईमानी आदि का अपराधी पाया जाता है, तो हम कैसी सफाई से, अपने आपको दूध का धुला साबित और घोषित करने के लिए उससे घृणा करने लगते हैं, उसे नाना प्रकार के बुरे-भले शब्द कहते हैं, और न्यायाधीश बन कर उसके लिए कठोर से कठोर दंड निर्धारित करने के इच्छुक रहते हैं। उपर्युक्त कथा के महात्मा के शब्दों में हममें कौन ऐसा है, जिसने कभी कोई अपराध न किया हो (भले ही वह अपराध गुप्त रहा हो)? राज्यों के कानूनी दंड से अपराधी-संसार का क्या भला हुआ, अथवा हो रहा है? क्या दंड से लोगों की भूख-प्यास मिटती है, उनकी शारीरिक तथा मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है?

गत राष्ट्रीय आन्दोलन में जिन शब्दों ने मेरा ध्यान बार-बार आकर्षित किया, वे थे—'जेल,' 'जुर्माना' और 'लाठी-चार्ज'। इनसे कुछ कम, फिर भी काफी प्रभाव डालने वाले शब्द थे—कालापानी और 'फांसी'। इन पांचों ने मानों मेरे मन पर बारी-बारी से धावा करने की ठान ली। अथवा, मेरे मन ने ही इन्हें अपना मेहमान बना लिया। कितनी बार कोई भाषण सुनने अथवा पत्र-पत्रिकाओं के लेख पढ़ने के बाद केवल ये शब्द मेरे चिन्तन का विषय बने रहते :—जेल, कालापानी, फांसी! समाज में, राजनैतिक

संसार में, इनका कैसा स्थान है ! इनसे क्या लाभ है ? क्या ये मानव जाति के आजीवन साथी बने रहेंगे ? विज्ञान-युग में मनुष्य ने कितनी रूढ़ियों को तोड़ डाला। अपराधियों के प्रति वह नवीन दृष्टि-कोण से कब विचार करेगा ? और हां, क्या अपराध केवल निर्धन आदमी ही करते हैं ? क्या धनवानों, और हां, धर्माचार्यों के अनेक कार्य समाज और राज्य को क्षति पहुंचाने वाले नहीं होते, भले ही वह किसी खास देश काल में 'अपराध' न माने जायँ ? और क्या 'अपराध' स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही किए जाते हैं ? हजरत ईसा को सूली पर क्यों चढ़ाया गया ? महात्मा सुक़रात को ज़हर का प्याला क्यों पिलाया गया ? विश्व-बन्द्य महात्मा गांधी को क्यों जेल का मेहमान बनाया गया ? आह ! अपराध-समस्या कितनी महान् और व्यापक है, कितनी प्राचीन एवं जटिल है ! और, सैंतीस करोड़ नर नारियों वाले विशाल भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा हिन्दी में, इस विषय का साहित्य कहां है, कितना है ?

❀ ❀ ❀

समय समय पर कई मित्रों से इस पुस्तक के विषय में चर्चा हुई। विचार-विनिमय में मुझे विशेष सहायता श्री० सिद्धनाथ माधव आगरकर जी से मिली, जिन्होंने अपने साप्ताहिक 'स्वराज्य' (खंडवा) में इस विषय की भी अच्छी विचार सामग्री दी है। मान्यवर पंडित सुन्दरलाल जी, प्रयाग, के साथ भी विचार करने का मुझे सुअवसर मिला। आपने इस विषय में बहुत दिलचस्पी दिखाई, और इस पुस्तक के लिए भूमिका लिखने की कृपा की

है। मुझे अपने साहित्य कार्य में ऐसे सहयोगियों की सहायता प्राय: मिलती रही है, और उन्हें उसके लिए धन्यवाद देकर उनसे उऋण होने का प्रयत्न करने की अपेक्षा, उनका ऋणी बने रहने में ही मुझे आनन्द है।

* * *

यह पुस्तक लिखी जाने के तीन वर्ष बाद पाठकों के सामने आ रही है; इतना अधिक विलम्ब होने के सम्बन्ध में, कुछ शब्द कहने हैं। बात यह थी, कि मैं इसे प्रकाशित करने में असमर्थ था, अत: समय समय पर अन्य प्रकाशकों से इसके सम्बन्ध में वार्तालाप या पत्र-व्यवहार किया गया। किसी किसी प्रकाशक ने निस्संकोच सीधी-साधी बात कह दी कि पुस्तक अच्छी है, अपने विषय की नयी है, पर ऐसी पुस्तक विशेष बिकती नहीं, और जब तक कुछ आय की आशा न हो, इसका छपाना उन्हें अभीष्ट नहीं। बात अप्रिय थी, पर उनकी स्पष्टवादिता ने मुझे व्यर्थ प्रतीक्षा के झंझट से तो बचा दिया। दो एक प्रकाशकों ने कहा कि पुस्तक ऐसे ढंग से लिखी जाय, और इसमें ऐसी बातें रहें तो अच्छा हो। मैं समझ गया कि ये इसका प्रकाशन 'सभ्यता-पूर्वक' अस्वीकार कर रहे हैं। कुछ प्रकाशकों ने कहा कि हम पुस्तक छाप सकते हैं, परन्तु अभी हमारे हाथ में दूसरा काम है। महीनों ही नहीं, वर्ष बीत गए, उनको दूसरे काम से अब भी अवकाश नहीं हुआ। एक सज्जन ने लिखा था कि ऐसी पुस्तक लेखक और प्रकाशक दोनों के लिए गौरव की वस्तु होगी।

अफसोस ! वे भी प्रकाशन का गौरव न ले सके। अन्ततः मैं प्रतीक्षा करते करते ऊब गया, बेचैनी बहुत बढ़ गई, एक दिन निश्चय कर लिया कि इसे जैसे-बने छपाया जाय। 'ऋणं कृत्वा घृतं पीवेत' की जिस नीति का मैं ने अपने व्यक्तिगत व्यवहार में यथा-सम्भव त्याग किया है, उसका साहित्य कार्य में तो प्रायः आश्रय लिया है। इस बार भी, दूसरा कुछ सहारा न देख कर, उसी के आधार पर पुस्तक प्रेस में दे डाली। फिर तो एक मित्र सहायक भी हो गए।

❃ ❃ ❃

प्रकाशकों के दरवाज़े खटखटाने की सुदीर्घ यात्रा तय करके, अथवा एक प्रकार से उनकी परीक्षा लेकर, अब इस पुस्तक को जैसे-तैसे पाठकों की शरण में आने का अवसर मिला है। देखना है, वे इसका कैसा स्वागत करते हैं। उनका सहयोग ही मेरा बल है। शुभम् !

विनीत

भगवानदास केला

सहायक पुस्तकें

—:o:—

Fundamentals of Child Study
—E. A. Kirkpatrick

The Changing School
—P. B. Ballard

A Manual of Ethics
—G. S. Mackenzie

Little Blue Books
—E. Halderman Julius

Crime and Insanity
—C. A. Mercier

The Criminal Man
—C. Lombroso

History of Freedom of Thought
—J. Bury

Soviet Communism; A New Civilisation.
—Sidney & B. Webb.

विषय सूची

—:o:—

विषय			पृष्ठ

विषय			पृष्ठ

भूमिका

—:०:—

श्रीयुत् भगवानदास जी केला की लिखी हुई सभी पुस्तकें अत्यन्त शिक्षाप्रद और सार-गर्भित हैं। अपनी इन रचनाओं द्वारा केलाजी ने हिन्दी साहित्य और देश दोनों की सच्ची सेवा की है; और, इस कार्य के सम्पादन के लिए पिछले बीस वर्ष से कठिन तपस्या का जीवन व्यतीत किया है। आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने केला जी के इस काम को 'विशेष उपयोगी' बतलाते हुए बिल्कुल सच लिखा था कि 'स्वराज्य चाहने वालों में कितने ही शास्त्री, पंडित और आचार्य तक वे बातें नहीं जानते, जिन पर आपने इतनी पुस्तकें लिख कर प्रकाशित कर दीं।'

उपस्थित ग्रन्थ केलाजी की उच्चतम रचनाओं में से है ; उपयोगिता की दृष्टि से भी वर्तमान हिन्दी साहित्य में उच्च स्थान दिये जाने के योग्य है। विद्वान लेखक ने इस ग्रन्थ में राजनीति और अर्थशास्त्र के परिमित वायुमंडल से ऊपर उठकर, समाज के हित को दृष्टि में रखते हुए, वर्तमान सभ्य संसार की एक अत्यन्त कठिन और महत्व-पूर्ण समस्या पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

इस पुस्तक का विषय आज कल के कानूनी जुर्म और उन्हें दूर करने का उपाय, है। जो लोग विविध देशों में प्रचलित विविध

कानूनों के अनुसार मुजरिम करार दिये जाते हैं, उन्हें दंड देकर उन के जुर्मों से समाज की रक्षा करना प्रत्येक सभ्य सरकार का कर्तव्य माना जाता है। समाज-रक्षा के नाम पर ही संसार के समस्त कानून, दंड विधान, पुलिस और न्यायालय रचे गये हैं, और यही उद्देश्य बता कर उनमें नित्य नए परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहते हैं। तथापि यह एक गम्भीर प्रश्न है कि इन समस्त कानूनों, दंड विधानों, और न्यायालयों द्वारा संसार के जुर्मों में किसी प्रकार की कमी, और उस के द्वारा समाज की रक्षा, होती है या नहीं। संसार के अधिकांश देशों में सैकड़ों और सहस्त्रों वर्ष तक इस प्रकार के कानून रहे हैं, और कहीं कहीं अब भी हैं, जिन के अनुसार प्रचलित धार्मिक आचार विचार से अथवा शासकों के धार्मिक आचार विचार से, भिन्न आचार विचार रखने वालों को दंडनीय समझा जाता है। इतिहास से साफ पता चलता है कि गत दो हजार वर्ष के अन्दर एशिया तथा योरप के विविध देशों में इस तरह के कानूनों द्वारा लाखों ही मनुष्य केवल अपने धार्मिक विचारों अथवा व्यवहारों के कारण अपने देशों से निकाले गये, जिन्दा जलाये गये, अथवा तरह तरह की यंत्रणा देकर मारे गये। राजनैतिक क्षेत्र में तो इस समय भी प्रायः प्रत्येक देश के अन्दर इस तरह के कानून मौजूद हैं, जिन के अनुसार सामयिक शासकों के विरुद्ध, विचार अथवा आदर्श के प्रचार करने वालों को मुजरिम तथा दंडनीय करार दिया जाता है। पराधीन देशों में अपनी प्यारी जन्मभूमि को स्वाधीन करने की

इच्छा रखने वाले लाखों ही नर नारियों को इस प्रकार के कानूनों द्वारा जेल के कष्टों, देश-निकाले की यंत्रणाओं, तथा मृत्यु दंड का सामना करना पड़ रहा है। इस प्रकार के कानून तो प्रत्यक्ष ही शासकों के विरुद्ध आदर्शों और विचारों को जुर्म, और उनका प्रचार करने वालों को मुजरिम, करार देते हैं, और शासकों के बदलने के साथ साथ बदलते रहते हैं।

किन्तु, यदि इस से हट कर हम उन साधारण जुर्मों की ओर भी ध्यान दें जो आम तौर पर शासकों के बदलने के साथ साथ नहीं बदलते तो भी दृश्य अधिक आशाजनक नहीं दिखायी देता। उदाहरण के लिए चोरी और जुआ प्रायः समस्त देशों में जुर्म समझे जाते हैं, और समाज-रक्षा के नाम पर चोरों और जुआरियों को दंड दिये जाते हैं। पर कौन कह सकता है कि चिथड़े पहने हुए और सूखे सूखे हाथ पैरों वाला वह मनुष्य जिसने अपने बच्चों की भूख को सहन न कर सकने के कारण पास के साहूकार के यहां से दो सेर नाज चुरा लिया था, उस स्वस्थ और चिकने चुपड़े मेजिस्ट्रेट की अपेक्षा, समाज के लिए, अधिक हानिकर है, जो आठ सौ रुपये मासिक वेतन के बदले उस निर्धन चोर को चोरी के जुर्म में एक वर्ष के कठिन कारावास का दंड सुना देता है? इसी प्रकार गली के सिरे पर कौड़ियां फैंक कर अपनी व्यक्तिगत तफरीह के लिए पैसों से जुआ खेलने वालों को कानून के अनुसार कठिन कारावास भोगना पड़ता है, और 'स्टाक एक्सचेंज' पर लाखों और करोड़ों का जुआ खेल कर,

लाखों और करोड़ों ही मनुष्यों की क़िस्मतों का फैसला कर देने वाले का समाज तथा सरकार दोनों में आदर होता है। किन्तु फिर वही प्रश्न उठता है कि देश के करोडों धन-हीन अथवा अल्प धन वाले नर नारियों के लिए कौन अधिक हानिकर है? गली में पैसों से जुआ खेलने वाला, अथवा पक्की इमारतों में लाखों का सट्टा खेलने वाला?

जिन लोगों को जेलखानों के अन्दर, अथवा उनके ग्रामों में, साधारण मुजरिमों के साथ रहने का सुअवसर मिला है, अथवा जिन्होंने जरायम-पेशा कहलाने वाली जातियों के हालात को ध्यान से पढ़ा है, उन्हें मालूम है कि चोर डाकुओं और क़ातिलों के अन्दर भी प्रेम, सहृदयता, पर-सेवा और आत्म-समर्पण के भावों का सर्वथा अभाव नहीं होता। हम में से अनेक ने जेलखानों के अन्दर इस प्रकार के सज़ायाफ़्ता लोगों को एक दूसरे के साथ सच्चा प्रेम दर्शाते, महिनों स्वयं आधा पेट खाकर अपनी खुराक दूसरों को देते, और दूसरों की सहायता और रक्षा के निमित्त हर प्रकार के कष्टों का सहर्ष सामना करते देखा है। पर-सेवा, गरीबों तथा निर्धनों, अनाथों तथा विधवाओं की सहायता और देश तथा जाति के लिए आत्मोत्सर्ग के भाव चोरों डाकुओं और क़ातिलों (हत्यारों) में कभी कभी भद्र कहलाने वाले नागरिकों की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। अपना सर्वस्व न्यौछावर करके अथवा जान पर खेल कर भी, अपने साथी मित्र अथवा आश्रित के साथ प्रतीज्ञा का निबाहना

तो इन लोगों का एक आश्चर्यजनक गुण होता है। चोरों और डाकुओं की आपसी ईमानदारी प्रायः सब देशों में प्रसिद्ध है।

इस सब के अतिरिक्त प्रायः किसी भी देश की जरायम सम्बन्धी रिपोर्टों से देखा जा सकता है कि वर्तमान कानून, दंड-विधान, न्यायालय और जेलखाने इस तरह के जुर्मों को भी कम नहीं करते। जेलखानों के विषय में तो यह एक सामान्य अनुभव है कि कोई भी चोर जब तक जेलखाने न जाय, उसके सुधरने की कुछ सम्भावना रहती है, किन्तु एक बार जेलखाने जाकर प्रत्येक चोर सदा के लिए पक्का चोर हो जाता है। एक ओर तो पुलिस और न्यायालय साधारण निर्बल और निर्धन व्यक्ति पर एक प्रकार की असफल रोकथाम रख कर, और उसी रोकथाम द्वारा धनाड्य और शक्तिशाली लुटेरों की दिन-दहाड़े और राजनियमानुकूल लूट को सुरक्षित करके, मानव समाज के अन्दर चोरों और अन्याय की प्रवृत्ति को और अधिक मजबूत करते रहते हैं; और दूसरी ओर यह एक मानी हुई बात है कि कानून दंड और कचहरियां जितनी बढ़ती जाती हैं, साधारण चोरियां तथा अन्य जरायम भी उतने ही बढ़ते तथा नित्य नये रूप धारण करते जाते हैं। यह बात स्पष्ट है कि जुर्मों को दूर करने के वर्तमान प्रयत्न किसी माइने में भी सफल नहीं कहे जा सकते।

इस असफलता का एक मात्र कारण यह है कि जुर्मों तथा मुजरिमों अर्थात् अपराधों और अपराधियों को देखने का हमारा दृष्टि-कोण ही सर्वथा दूषित है। स्वभावतः हमारे सारे उपाय भी

गलत और निकम्मे हो जाते हैं। वास्तव में जुर्मों की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति केवल एक नैतिक तथा मानसिक रोग है, जिसका शारीरिक रोगों के समान, मनुष्य की शारीरिक तथा आर्थिक अवस्था के साथ भी कभी कभी गहरा सम्बन्ध होता है। यह एक आश्चर्य और दुख की बात है कि जबकि एक ओर हम अपने उन भाइयों से जो साधारण शारीरिक रोगों से पीड़ित होते हैं, घृणा करने, उन्हें दंड देने, अथवा उन्हें समाज का शत्रु समझने के स्थान पर उन्हें अपने विशेष प्रेम, दया और सेवा-सुश्रुषा का पात्र समझते हैं, दूसरी ओर हम अपने नैतिक तथा मानसिक रोगों से पीड़ित भाइयों के साथ घृणा करते हैं, और उन्हें समाज का शत्रु समझ कर उन्हें दंड देते हैं। मुख्य बल्कि एक-मात्र आवश्यकता इस गलत दृष्टि-कोण को बदलने की है। जहाँ प्रेम, समवेदना, सुश्रुषा और वैज्ञानिक चिकित्सा की आवश्यकता थी, वहां हम घृणा तथा पाशविक बल से काम लेना चाह रहे हैं। स्वभावतः हमारे इलाज के साथ साथ रोग भी बढ़ता जा रहा है।

इस के अतिरिक्त जिस प्रकार शारीरिक रोगों की दृष्टि से सहस्रों में किसी एक मनुष्य का भी सर्वथा स्वस्थ मिलना अत्यन्त कठिन है, कोई न कोई रोग किसी न किसी परिमाण में हम में से हर एक के अन्दर मौजूद होता है; उसी प्रकार नैतिक रोगों की दृष्टि से भी हम में से किसी का सर्वथा निरोग होना लगभग असम्भव है। हम में से प्रत्येक मनुष्य यदि वह ईमानदारी के

साथ अपने भीतर देखे, तो किसी न किसी अर्थ में मुजरिम है, और प्रायः ऐसा होता है कि सामान्य जुर्मों की दृष्टि से भी हम में से अनेक भद्र और मान्य समझे जाने वाले लोग उन लोगों की अपेक्षा अधिक अपराधी होते हैं, जिन्हें कानूनन अपराधी करार दिया जाता है। संसार में न कोई अपराधी, सद्‌गुणों से सर्वथा वंचित होता है, और न कोई भलामानस समझा जाने वाला, कुप्रवृत्तियों से सर्वथा मुक्त। अन्तर केवल मात्रा या परिमाण का होता है, जो हर मनुष्य के साथ समय समय पर बदलते रहते हैं। यदि इस एक नियम को भी हम अपने नेत्रों के सन्मुख रखें तो जुर्मों और मुजरिम कहलाने वाले लोगों की ओर हमारे भाव बदल जावें।

एक और छोटी सी बात जिसका हमें ध्यान रखना चाहिये, यह है कि जिस प्रकार कोई कोई रोग ऐसे भी होते हैं, जिनमें अलग अलग वैयक्तिक रोगियों का इलाज करना अपने समय को नष्ट करना है, और वास्तविक इलाज आस पास के वायु मंडल से उन कीटाणुओं को दूर करना है, जो रोग के वास्तविक कारण होते हैं, अथवा सार्वजनिक स्वास्थ और शौच के उन नियमों का पालन करना है जिन की अवहेलना से वे कीटाणु पैदा होते और बढ़ते हैं, उसी प्रकार अनेक जुर्म भी ऐसे होते हैं जिनका वास्तविक इलाज व्यक्तिगत मुजरिमों की ओर ध्यान देना नहीं, वरन् अपने सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन के उन दोषों को दूर करना है जो उन जुर्मों के फैलने के असली कारण

हैं। अधिकांश रोग अपने आस पास के वायुमंडल की किसी न किसी त्रुटि का परिणाम होते हैं, और एक सच्चे चिकित्सक का काम रोग अथवा रोगी से लड़ना नहीं होता, वरन् वायुमंडल की उस त्रुटि को दूर करना होता है।

अन्त में जिस प्रकार शारिरिक रोगों से संसार को मुक्त करने का मुख्य उपाय आरम्भ में ही लोगों के शरीरों को व्यायाम द्वारा दृढ़ बना देना है, उसी प्रकार नैतिक रोगों से समाज को छुटकारा दिलाने का मुख्य उपाय सच्ची धार्मिक अथवा नैतिक शिक्षा द्वारा बालकों तथा बालिकाओं की आत्मा को मजबूत करना है। धार्मिक शिक्षा से हमारा अभिप्राय किसी प्रकार की भी साम्प्रदायिक शिक्षा से नहीं है, और न विशेष रूढ़ियों, कर्म-कांडों अथवा पूजा-विधियों की शिक्षा से है। हमारा अभिप्राय उस नैतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा से है जो संसार के समस्त धर्मों का सार, और उनका एक-मात्र चिरस्थायी रहने योग्य तथा सर्वमान्य अंश है। प्रत्येक मनुष्य को बचपन से ही इस बात के बतलाये जाने की आवश्यकता है कि उस की आत्मा अन्य सब प्राणियों की आत्मा के साथ तथा समस्त विश्व की आत्मा के साथ एक है। उपदेशों द्वारा तथा क्रियात्मक उदाहरणों द्वारा उसे यह समझना होगा कि किसी भी दूसरे को हानि पहुंचाना अपने आप को हानि पहुंचाना, और किसी भी दूसरे की सहायता करना अपनी उन्नति और अपने विकास में सहायक होना है। उसे यह बताना होगा कि देश, सम्प्रदाय, जाति अथवा रंग के कृत्रिम

भेदों से ऊपर, मनुष्य मात्र एक हैं, और पशु पक्षियों तथा कीट पतंगों में भी ठीक वही आत्मा काम कर रही है जो उस के अन्दर। उसे यह भी समझना होगा सब के भले में हरेक का भला, और सब की उन्नति में हर एक की उन्नति का रहस्य छिपा हुआ है। इस मौलिक एकता की रोशनी में ही, उसे आत्मसंयम, आत्मोत्सर्ग, और सदाचार के महत्व को दर्शाना होगा। वास्तव में शेष संसार के साथ अपनी पृथकृता का अनुभव करना ही समस्त जुर्मों की जड़ है, और जिस दर्जे तक जो मनुष्य इस पृथकृता को अनुभव करता है उसी दर्जे तक वह मुजरिम है; वाह्य क्रियाएं केवल आन्तरिक भावनाओं की छाया होती है। और, सर्वथा निर्दोष अथवा निरपराध मनुष्य केवल वही हो सकता है, जो समस्त विश्व की आत्मा के साथ अपनी एकता को अनुभव कर चुका हो।

श्रीयुत् केला जी ने इस पुस्तक के अन्दर इन्हीं गम्भीर विषयों की चर्चा की है। उन्हों ने बतलाया है कि अपराध ऐसे रोग हैं, जिनकी सहानुभूति-पूर्ण चिकित्सा होनी चाहिये। वर्तमान चिकित्सा-शैली और पुलिस, जज, वकील, जेलर आदि चिकित्सकों के कार्य की उन्हों ने विचार-पूर्ण टीका की है। उन्हों ने दर्शाया है कि बेंत, जुर्माना, कैद, नज़रबन्दी, कालापानी, और फांसी इत्यादि सज़ाओं से अपराधी, उसके सम्बन्धियों, अन्य नागरिकों एवं राज्य सब को हानि ही होती है, और अपराध बढ़ते हैं। दंड सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तों की उन्हों ने आलोचना की है। अप-

राधों के अनेक कारणों में आनुवंशिक, शारीरिक, राजनैतिक और धार्मिक की व्याख्या करते हुए उन्हों ने बतलाया है कि धर्म और सभ्यता अन्तर्मुखी होनी चाहिये, बाहरी अथवा दिखावटी नहीं। अपराधों के निवारण के लिए उन्हों ने बताया है कि बचपन में माता पिता, लड़कपन में शिक्षक, और उस के बाद समाज और राज्य का क्या क्या कर्तव्य है, किस प्रकार सब व्यक्तियों को निर्वाह के साधन उपलब्ध होने चाहिये, और किस प्रकार नए ढंग के जेलों या अपराधी-अस्पतालों से लाभ हो सकता है। अन्त में, लेखक महाशय ने अपराधों की वैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति का बयान करते हुए बतलाया है कि किस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार के अपराधियों के लिए मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार उसके अनुकूल चिकित्सा होनी चाहिए।

मेरी राय में प्रत्येक सचेत हिन्दी प्रेमी को, जिसके हृदय में अपने राष्ट्र तथा मानव समाज के भविष्य के निर्माण में क्रियात्मक तथा विचार-पूर्ण भाग लेने की आकांक्षा हो, इस पुस्तक को अवश्य ध्यान-पूर्वक पढ़ना चाहिये।

सुन्दरलाल
प्रयाग

अपराध चिकित्सा

प्रथम खंड

वर्तमान अपराध चिकित्सा

"अपराध रूपी व्याधि के लग जाने से समाज का अनिष्ट होता है। हजारों साल से लोग इस समस्या के हल करने में लगे हुए हैं। परन्तु पूरी सफलता प्राप्त होती नहीं देख पड़ती। इसका मुख्य कारण यह है कि हम अपराध के वाह्य कारणों पर तो दृष्टि डालते हैं, परन्तु उस की अन्दरूनी बातों पर ध्यान नहीं देते।"

—रमाशंकर मिश्र

—:o:—

"सुनते हैं, इगलैंड में एक ऐसा कानून बनाया जा रहा है, जिसमें अब अठारह साल के कम उम्र के अपराधी लड़कों को न बेंत की सजा दी जायगी, और न फांसी का ही दंड। मानवता के पुजारियों के लिये यह एक शुभ सूचना है। हम तो वह स्वर्ण-स्वप्न देख रहे हैं, जब यह अठारह बीस साल की कैद भी दुनिया से हटा ली जायगी, और आज के इस पुकार के ये सारे अमानुषिक दंड क़ानून की कलंकित पोथियों में न लिखे रह जायगे।"

—"पतित बन्धु"

—:o:—

पहिला परिच्छेद

विषय प्रवेश

"जिस प्रकार किसी स्थान में होने वाले शारीरिक रोगों से वहां की प्राकृतिक जल वायु का अनुमान होता है, उसी प्रकार अपराध रोग हमारे नैतिक जल वायु के मापक हैं।"

प्राक्कथन—संसार में नयी सृष्टि का निर्म्माण हो रहा है। हम बात बात में नये विचारों का आह्वान कर रहे हैं, केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक और शिक्षा सम्बन्धी सभी विषयों में उथल-पुथल दिखायी दे रही है। तुच्छ से तुच्छ वस्तु को उपयोगी बनाने का उद्योग हो रहा है, फिर पतितों और दलितों को उठाने की तो बात ही क्या है। इस प्रकार की घोषणा सी हो गयी है कि अब कोई चिरकाल तक 'नीच' न कहा और, न समझा जायगा; निम्न श्रेणियों के उत्थान की शुभ सूचना मिल चुकी है।

ऐसी परिस्थिति में क्या यह उचित या क्षम्य है कि अपराधियों के विषय में कुछ विशेष विचार न किया जाय ? जिस पद्धति से अब तक उनके साथ व्यवहार होता आया है, उसकी सार्थकता या निरर्थकता की जांच न की जाय ? जब कि प्राचीन धर्मशास्त्रों की नये सिरे से आलोचना और प्रत्यालोचना आवश्यक समझ ली गयी है, तो क्या दण्ड-शास्त्रों को अछूता ही छोड़ दिया जाय ? अपराधियों की वर्तमान संख्या तथा अपराधों की गुरुता क्या हमारे लिये लज्जाजनक नहीं है ? और, क्या उस लज्जा के निवारण के लिये यही पर्याप्त या उचित है कि छोटे-मोटे अपराध करने वाले बालकों को बेंत की सजा से निर्लज्ज और दुस्साहसी बनाया जाय, और युवकों को सर्व साधारण से पृथक् करके, जेल की चार-दिवारी में बन्द करके और भी अधिक विकृत होने दिया जाय, तथा गुरुतर अपराधियों को और भी ज्यादह फासले पर, काले-पानी में ले पटका जाय ? क्या, यह कुछ विचित्र बात नहीं है कि हम एक ओर तो निकम्मी से निकम्मी, दुर्गन्ध-युक्त, सड़ी-गली, कूड़े कर्कट की वस्तुओं को भी काम में लाकर अपने विज्ञान का अभिमान करते हैं, और दूसरी ओर प्रति वर्ष अनेक (हत्या या राजद्रोह आदि के) अपराधियों को फांसी के तख्ते पर चढ़ा कर, उन्हें उपयोगी बना सकने के सम्बन्ध में अपनी असमर्थता और अल्पज्ञता को भयंकर रूप से घोषित करते हैं ! क्या, हम कभी शांति से यह विचार करने बैठते हैं कि ये अपराधी भी मनुष्य हैं, हमारी ही (मानव) जाति के हैं,

हमारे ही भाई-बहिन हैं। वे अपराधी क्यों हुए ? अथवा, इनको अपराध करने की मनोवृति को बढ़ने और फलने-फूलने का अवसर क्यों मिला ? उसका सुधार कैसे हो ?

अपराध किसे कहते हैं—साधारण सरल भाषा में अपराध ऐसे कार्य को कहते हैं, जिसके लिये राज्य के कानून से दंड देने की व्यवस्था हो। राज्य किसी व्यक्ति को तब ही दण्ड देता है, जब कि वह उसे कोई ऐसा कार्य करते पाता है, जिससे दूसरे व्यक्ति को [या समाज को] हानि हो, या कोई अन्य व्यक्ति उसके विरुद्ध अपनी हानि का अभियोग चलावे, और वह अभियोग प्रचलित कानून के अनुसार प्रमाणित हो जाय। इस से स्पष्ट है कि कोई कार्य अपराध प्राय: उसी दशा में माना जाता है, जब उसका सम्बन्ध अपराध करनेवाले के अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति से भी हो। जिन कार्यों का सम्बन्ध दूसरे आदमियों से न हो, अथवा जिनका प्रभाव किसी विशेष व्यक्ति पर न पड़ता हो, वे चाहे जितने निन्द्य क्यों न हों, अपराध नहीं कहे जा सकते। उदाहरणार्थ यदि कोई आदमी एक ऐसी चीज़ अधिकार में कर ले जो किसी व्यक्ति या संस्था की न हो, तो उसे 'अपराध' की श्रेणी में नहीं गिना जायगा। इसी प्रकार जो कार्य दूसरों को मालूम न हों, वे नैतिक दृष्टि से बुरे होने की दशा में भी 'अपराध' नहीं माने जायँगे। ऐसे कार्यों को अधर्म या पाप कह सकते हैं। डाक्टर ग्रिफ्थ ने कहा है कि सभी कानून नीति के सिद्धान्तों पर नहीं बने होते, और सभी गुनाह नीति की दृष्टि

से भ्रष्ट नहीं होते; गैर-कानूनी होना और बात है, तथा अनीतिमान होना और बात।

अस्तु, अपराध वह कार्य है जिसके करने वाले को राज्य की ओर से दंड दिया जाता है। परन्तु क्या दंड पाने वाले सब व्यक्ति वास्तव में अपराधी, और दंड न पाने वाले सब निरपराध होते हैं?

कौन नहीं जानता कि आजकल के ज़माने में अनेक अपराधों की पुलिस में झूठी रिपोर्ट दी जाती है; और, जिन अपराधों की सच्ची रिपोर्ट हो जाती है, उनके लिये दण्ड मिलना न मिलना भी बहुत कुछ संयोग और विशेष कारणों पर अवलम्बित होता है। आधुनिक न्याय-प्रणाली में जो व्यक्ति अच्छे बढ़िया वकील कर सकता है, अच्छे प्रतिष्ठित गवाहों का तथा अन्य प्रकार का खर्च सहन कर सकता है, उसके मुक्त होने की बहुत कुछ संभावना रहती है। इसके विपरीत, साधारण स्थिति के निर्धन आदमियों का छुटकारा पाना कठिन होता है। इस प्रकार, यद्यपि सिद्धान्त से कानून के सामने धनी निर्धन समान हैं, परन्तु व्यवहार में धनवानों को दंड से बचने की जितनी सुविधाएं प्राप्त होती हैं, उतनी निर्धनों को नहीं होती।

यह स्पष्ट है कि न तो दंड पाने वाले सब व्यक्तियों का अपराधी होना आवश्यक है, और न यही कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति दंडित नहीं होते, वे सब निरपराधी ही होते हैं। वास्तव में किसी समय में किसी देश में कितने अपराधी हैं, इसका हिसाब

कभी भी ठीक ठीक नहीं लगाया जा सकता। संसार जिन आदमियों को खुले आम अपराधी कहता या समझता है, उनमें से कितने ही व्यक्ति निर्दोष हो सकते, और, होते हैं। इसके विपरीत, अनेक व्यक्ति सांसारिक दृष्टि से भले आदमी दीखते हुए भी वास्तव में अपराधी हैं, और कुछ दशाओं में ऐसे अपराधी हैं कि यदि उनका रहस्योद्घाटन होजाय तो वे अन्य अनेक अपराधियों की अपेक्षा कहीं अधिक तिरस्कृत माने जांय।

परन्तु यह तो आधुनिक न्याय व्यवस्था की एक न्यूनता की बात हुई। इस में क्रमशः सुधार का विचार किया जा रहा है; इस के सम्बन्ध में हमें यहां विशेष वक्तव्य नहीं है। हमारा मुख्य विषय अपराध है, और उस के विषय में जो साधारण विचार ऊपर दिया गया है, वह हमारे प्रस्तुत विषय के लिये पर्याप्त है।

कुछ विशेष बातें—अपराध की पूर्वोक्त व्याख्या के अनुसार, कुछ बातें अपवाद-स्वरूप मालूम हो सकती हैं। उनका विचार कर लेने से विषय अधिक स्पष्ट हो जायगा। उदाहरणार्थ एक आदमी आत्म-हत्या करना चाहता है। वह और किसी का तो कुछ नहीं बिगाड़ता। फिर, क्या राज्य उसे ऐसा करने देगा? या उसका यह कार्य अपराध माना जायगा? बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति राज्य का एक अंग माना जाता है, इस लिये जो व्यक्ति आत्म-हत्या का प्रयत्न करता है, वह राज्य की हानि करता है, इस लिये उसका यह कार्य अपराध समझा जाता है।

अच्छा, यदि राज्य का प्रत्येक व्यक्ति उस का अंग है, तो क्या प्रत्येक व्यक्ति के समय शक्ति और द्रव्य पर राज्य का अधिकार है? क्या किसी को इन के खर्च करने में कुछ स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिये? अथवा, जो व्यक्ति इनका दुरुपयोग करे, वह अपराधी माना जाना चाहिये? इस विषय में बहुत मत भेद है। और, भिन्न भिन्न देशों में आमदनी पर लगने वाला अतिरिक्त आय-कर, मृत्यु-कर (विरासत-कर), तथा विलासिता के पदार्थों पर लगने वाले करों का लगाया जाना कुछ अंश में इसी प्रकार का कार्य कहा जा सकता है; रूस आदि कुछ देशों में तो यह नियंत्रण बहुत अधिक होने लगा है। तथापि यह स्पष्ट है कि नागरिकों का खासा समय, शक्ति और द्रव्य ऐसा रहता है जिस पर राज्य का नियंत्रण नहीं होता; वास्तव में पूर्ण नियंत्रण न सम्भव ही है, और न अभीष्ट ही।

अब एक दूसरे प्रकार के उदाहरण पर विचार करें। किसी राज्य का एक सैनिक दूसरे राष्ट्र के आक्रमणकारी नागरिक की, अथवा अपने ही राज्य के विद्रोही नागरिक की, हत्या करता है। क्या यह कार्य अपराध माना जायगा? इस सम्बन्ध में विदित हो कि अभी तक राज्यों में ऐसी भावना नहीं हुई है कि वे दूसरे राज्यों के आदमियों के जीवन-अधिकार को उस दशा में भी मान्य करें, जब कि उन में पारस्परिक युद्ध हो। इसी तरह राज्य अपने आदमियों में से भी जिन को विद्रोही समझता है, उन्हें अपना नागरिक नहीं मानता, तथा उन्हें दंडित करता है। इसलिये

जो सैनिक इन्हें मारते हैं, वे हत्या के अपराधी नहीं माने जाते, वरन् अपना राजकीय कर्तव्य पालन करते हुए समझे जाते हैं।

अपराध और सामाजिक जीवन—पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अपराधों का, मनुष्यों के सामाजिक जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है। अलग अलग रहने वाले, एकांगी जीवन व्यतीत करने वालों का कोई कार्य, नैतिक दृष्टि से निन्द्य होते हुए भी, अपराध नहीं होता। वे स्वेच्छाचारी होते हैं, जिस चीज या पशु आदि को चाहें ग्रहण कर सकते हैं, और उसे अपनी इच्छानुसार काम में ला सकते हैं। उन के स्वामित्व का क्षेत्र उन की शक्ति पर निर्भर होता है, जो कुछ उन की पहुँच में आजावे वह सब उनका है, कोई दूसरा उस पर अपना अधिकार नहीं जता सकता, जब तक कि अपने शारीरिक बल से उस में उसे छीन लेने की हिम्मत न हो। मनुष्यों के समाज का अंग बन जाने पर यह स्थिति बदल जाती है। फिर, प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अपनी निर्धारित सम्पत्ति जायदाद मकान या खेत आदि होते हैं, दूसरा उसे ले नहीं सकता; लेने की बात तो दूर रही, कोई किसी के घर या बाग आदि में घुस भी नहीं सकता, जब तक कि उसके स्वामी की स्वीकृति या अनुमति न हो। यदि कोई दूसरे की वस्तु का अनधिकार-पूर्वक उपयोग करेगा, दूसरों के हित में अनुचित बाधा डालेगा, या दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप करेगा तो उस का यह कार्य कानून की पकड़ में आजायगा, यह

अपराध माना जायगा। इस से स्पष्ट है कि अपराधों की गणना, सामाजिक जीवन में ही होती है। अपराध वे ही कार्य होते हैं, जो दूसरों के उचित या न्याय्य समझे जाने वाले हित में बाधक हों।

असाधारण अवस्था; समाज हितकर अपराध (?)— हमने कहा है कि अपराध मनुष्यों के वे कार्य हैं जो समाज हित में बाधक हों। परन्तु यह बात साधारण अवस्था के लिये ही है। कभी कभी इस के विपरीत अनुभव होता है; अर्थात् यह सम्भव है कि कोई आदमी शिक्षा परिस्थिति या स्वतंत्र चिन्तन आदि के कारण ऐसे कार्य करे जो प्रचलित कानून के विरुद्ध हों, परन्तु जिन्हें वह (तथा अंशतः जन समुदाय) समाज-हितकारी ही समझे। उदाहरणार्थ एक आदमी अपने देश की शासन पद्धति को दूषित मानता है, और उस पद्धति में यथेष्ट सुधार करने की जो विधि कानून से निर्धारित है, उसे भी अपर्याप्त समझता है। वह ऐसे कार्य क्रम का अवलम्बन करता है, जो तत्कालीन कानून से अनुमोदित नहीं है। इस दशा में वह 'अपराधी' माना जाता है, चाहे उस में उसका व्यक्तिगत या पारिवारिक स्वार्थ कुछ भी नहीं है, और उस के कार्य से अन्ततः समाज का बड़ा हित ही क्यों न हो। ऐसे 'अपराधियों' को दंड देना वास्तव में समाज की, तथा उस के नियुक्त मेजिस्ट्रेटों की एक शोचनीय त्रुटि है।

अपराध न समझे जाने वाले दुष्कृत्य—इसी प्रकार अनेकशः ऐसा भी होता है कि कुछ कार्य समाज-घातक होते हुए

भी किसी विशेष स्थिति में अपराध नहीं माने जाते। मध्यकालीन योरप में अनेक धर्माधिकारियों एवं शासकों ने अपने धार्मिक जोश या उन्माद में अन्य मतों के अनुयाइयों पर भयंकर अत्याचार किये और समाज को भारी क्षति पहुँचायी। उन के कार्य तत्कालीन परिस्थिति में गैर-कानूनी या अपराध नहीं माने गये।

आधुनिक काल में भी लोगों के कई कार्य ऐसे हैं, जो समाज के लिये हानिकर हैं, अथवा बुरे दृष्टान्त उपस्थित करने वाले हैं, परन्तु वर्तमान सभ्यता में उन्हें न्यायायुमोदित मान लिया गया है, उदाहरणवत कुछ खास सीमाओं या नियमों का ध्यान रखते हुए नशेबाजी, वेश्यागमन, घुड़दौड़, लाटरी या सट्टेबाजी करना, तथा अतिशय अत्युक्ति-पूर्ण विज्ञापनबाजी करके जनता का धन लूटना, आदि अपराध नहीं माने जाते।

अपराधों के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएं—कोई कार्य ऐसा नहीं है, जिस का करना सब देशों में, या सदैव अपराध माना गया है, या अब माना जाता हो। संसार में कहीं कहीं कई जातियों में रिश्ते में बहिन लगने वाली स्त्री से विवाह कर लिया जाता है। स्त्रियों का पुनर्विवाह अनेक आदमी बहुत नापसन्द करते हैं, तो कितनी हो जगह एक स्त्री के एक ही समय में कई कई पति रहे हैं; एवं इस समय भी होने के उदाहरण मिल जाते हैं। यूनान में पहले बहुत समय तक कुरूप बच्चों को तथा राजपूताने में नव-जात बालिकाओं को मार डालने की रीति प्रचलित

रही है। उस समय वहां के निवासी, उसे पाप या अपराध नहीं मानते थे। एक समय था, जब यूनान का राज्य आदमियों को चोरी करने की खुली इजाज़त देता था। इससे उसे आशा थी कि नागरिकों में साहस और स्फूर्ति आयेगी, तथा लोगों में अपरिमित धन-संग्रह करने की प्रवृत्ति न होगी। रोम में बहुत समय तक पिता का, अपने पुत्र के बालिग होने पर भी, उसके जान-माल पर पूर्ण अधिकार होता था। यदि पिता अपने पुत्र का बध कर देता तो वह अपराधी नहीं माना जाता था। बहुत सी जातियों में आदमी, अपनी लड़कियों तथा लड़कों के वास्ते उनकी स्वीकृति लिये बिना ही नहीं, बहुधा उनकी स्पष्ट सम्मति की नितांत अवहेलना और विरोध तक करके, वर-वधु निश्चित कर देते हैं। संसार में, अनेक देशों में बहुत समय तक लड़के-लड़कियों तथा पुरुषों और स्त्रियों का क्रय-विक्रय पशुओं तथा अन्य वस्तुओं की भांति होता रहा है। दास और बेगार-प्रथा प्रचलित रही है, और कुछ जगह भेष बदल कर थोड़ी-बहुत मात्रा में इस समय भी विद्यमान है। राजा या सरदार कहीं-कहीं युद्ध में बन्दी किये हुए व्यक्तियों के जान-माल और चरित्र पर मन चाहा आघात करते रहे हैं।

इन बातों से स्पष्ट है कि अपराध का क्षेत्र समय समय पर कैसा और कहां तक घटता-बढ़ता रहा है। वास्तव में कोई बात अपराध है या नहीं, इसका निश्चय करने का कोई निर्धारित सिद्धान्त नहीं है; किसी राज्य के तत्कालीन नियमों का विचार करके ही,

इस का निश्चय किया जाता है। श्री. सी. लोम्बरोजो का तो मत है कि गर्भपात, भ्रूण हत्या, शिशु हत्या, आत्म हत्या, व्यभिचार, द्वन्द्व युद्ध आदि ऐसे कार्यों को जिन्हें साधारण जनता अपराध नहीं समझती, अर्थात् जिनके विषय में कोई अभियोग नहीं लगाया जाता, कानून की दृष्टि से अपराध नहीं माने जाने चाहिये।

प्राचीन और आधुनिक अपराध—प्राचीन काल के तथा आधुनिक अपराधों में एक उल्लेखनीय अन्तर है। पहिले आदमी प्रायः जंगली तरीक़े से और छुरी आदि के बल से अपने अपराध-कार्य किया करते थे, जिनका रूप अधिकतर हिन्सात्मक होता था। यद्यपि इस समय भी लोगों की प्रकृति में पूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है, और वह अब भी शारीरिक बल का प्रयोग किया करते हैं, तथापि अब वे आधुनिक परिस्थितियों से प्रभावित हो रहे हैं, वे अपने अपराध कार्य सभ्यता-पूर्वक, छल कपट, धोखे बाजी, मक्कारी आदि के रूप में अधिक करते हैं, अपराधियों के अस्त्र अब भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र, बाइसिकल, मोटरकार और कहीं कहीं हवाई जहाज़ आदि भी हैं। बड़े बड़े शहरों में जिस ढंग से दिन-दहाड़े, बात की बात में हज़ारों रुपया ठग लिया जाता है, उसका वृतान्त बड़ा मनोरंजक है, उसमें पाठकों को शेखचिल्ली की कहानियों का सा आनन्द मिल सकता है, परन्तु हमारे प्रस्तुत प्रसंग से बाहर होने के कारण, उसे यहां स्थान न देकर, हम उसका संकेत मात्र ही किये देते हैं।

अपराध एक प्रकार का रोग है—संसार में मनुष्यों को होनेवाली विविध बीमारियां हैं। कुछ बीमारियां ऐसी भी हैं, जिनका प्राचीन साहित्य में उल्लेख नहीं पाया जाता। सम्भव है, वे बीमारियां उस समय बहुत कम रही हों, अथवा न भी होती हों; आधुनिक काल की बदलती हुई परिस्थिति में ही उनका प्रादुर्भाव या विकास और वृद्धि हुई हो; परन्तु अनेक पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि अपराध भी एक प्रकार की बीमारी है। जिस प्रकार सर्दी, गर्मी, प्रकाश, संयम और विश्राम आदि की न्यूनता या अधिकता से, अथवा भोजन, जलवायु आदि के दूषित होने से, मनुष्यों को खांसी बुखार, पेचिश, हैजा आदि विविध बीमारियां घेर लेती हैं, उसी प्रकार प्रायः सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक अथवा धार्मिक मत-मतांतर सम्बंधी परिस्थिति के कारण लोगों में अपराध-रूपी रोग लग जाता है, अथवा बढ़ जाता है।

इस के साथ ही यह बात भी है कि जैसे कुछ मनुष्य जन्म से ही रोगी होते हैं, उनको कोई आनुवंशिक बीमारी होती है, या उनका कोई अंग गर्भावस्था में अविकसित रह जाता है, कोई इन्द्रिय अपना यथेष्ट कार्य करने में असमर्थ रहजाती है, इसी प्रकार कुछ आदमी जन्म से 'अपराध-रोगी' होते हैं। उन के शरीर की रचना तथा उनके मनोभाव आदि के लक्षणों से अपराध-विशेषज्ञ यह जान सकते हैं कि इनमें अपराध-प्रवृत्ति न्यूनाधिक

मात्रा में होनी स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में विशेष विचार आगे किया जायगा।

यद्यपि अभी तक बहुत थोड़े आदमियों ने इस विषय पर कुछ गम्भीर विचार किया है, नवीन युग की यह घोषणा है कि अपराध भी एक प्रकार का रोग है, और अन्य रोगों की भांति इसका वैज्ञानिक पद्धति से विचार—निदान और चिकित्सा होनी चाहिये।

दूसरा परिच्छेद

—:o:—

चिकित्सा-शैली और चिकित्सक

'यह तर्ज़ ऐहसान करने का, उन्हीं को ज़ेब देता है।
मर्ज़ में मुबतिला करके, मरीज़ों को दवा देना॥'

पहले बताया जा चुका है कि अपराध भी एक प्रकार का रोग है। इस रोग का निवारण और चिकित्सा किस प्रकार होनी चाहिये, इस विषय पर विचार करने से पूर्व, यह जान लेना अच्छा है कि आज कल इसकी चिकित्सा किस प्रकार, और कैसे कैसे चिकित्सकों द्वारा, की जाती है।

वर्तमान चिकित्सा पद्धति—हम देखते हैं कि प्रायः बुद्धिमान वैद्य या डाक्टर रोगी को, उसके बीमार होने का बहुत

कम विचार करने देते हैं। जबकि लोभी, अल्पज्ञ अथवा कम अनुभवी चिकित्सक मामूली सी बीमारी को भी बहुत भयंकर बतलाया करते हैं, और इस प्रकार अपने श्रम के लिये रोगी से अधिक से अधिक द्रव्य ऐंठना चाहते हैं, समझदार इलाज करने वाले सज्जन किसी बड़े रोग से रुग्न व्यक्तियों को भी यही कहा करते हैं, 'तुम तो भले चंगे हो तुम्हें कुछ बीमारी नहीं है, और जरा बहुत तुम्हें मालूम भी होती है तो यह सहज ही हट जायगी।' इन अनुभवी चिकित्सकों की औषधी की मात्रा भी बहुत कम होती है। इनकी औषधी प्रायः रोगी को औषधी मालूम नहीं होती। ये रोगी का ध्यान रोग की तरफ से हटा कर अन्य बातों की तरफ लगा देते हैं, उसका मनोरंजन करते है, और प्रायः बहुत जल्दी उसका हित-साधन करने में सफल हो जाते हैं।

इन बातों को अपराध-चिकित्सा के सम्बन्ध में स्मरण रखना आवश्यक है। अधिकारियों के व्यवहार या बर्ताव द्वारा अपराधी को हर दम यह याद कराते रहने की बिलकुल जरूरत नहीं है कि वह अपराधी है और उसके सुधारने का प्रयत्न किया जा रहा है; अर्थात् अपराधी के सुधार का कार्य प्रत्यक्ष न होकर बहुत कुछ परोक्ष रीति से होना चाहिये। इसमें जोर-जबरदस्ती का कुछ काम नहीं। हम बहुधा देखते हैं कि दूसरों के कहने सुनने या बल-प्रयोग से बहुत से आदमी अपना स्वभाव या आदतें नहीं बदलते। जब उनके मन में कोई बात जँच जाती है और वे स्वयं अपना सुधार करते हैं, तभी वास्तव में सच्चा और कुछ स्थायी

सुधार होता है। बल-पूर्वक सुधार करने के प्रयत्न में विशेष सफलता नहीं मिलती, और यदि कुछ सुधार होता भी है तो वह क्षणिक होता है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष रीति से और बल-पूर्वक सुधार के आधार पर की जाने वाली अपराध-चिकित्सा का असफल रहना स्वाभाविक है; हमें उसकी सफलता की आशा न करनी चाहिये।

प्रेरक हेतु का विचार नहीं किया जाता—आज कल अपराध-चिकित्सा के विषय में यही सोचा जाता है कि क्या अपराध किया गया और उसके करने में अपराधी का इरादा क्या था; परन्तु इस बात का प्रायः बिचार नहीं किया जाता कि अपराधी को उस कार्य के करने की प्रेरणा कहां से, किस बात से हुई। प्रेरक हेतुओं पर ध्यान न देकर, अपराधियों को दंड देना नितान्त अनुचित और नीति-विरुद्ध है। ऐसा मालूम होता है कि संसार का वर्तमान कानून विशेषतया दंड देने पर ही तुला हुआ है। किस प्रकार सामाजिक आर्थिक आदि भिन्न भिन्न परिस्थितियों में पड़ कर, आदमी विविध अपराध करने को वाध्य हो जाते हैं, यह बहुत सोच बिचार का विषय है। यहां पर हमें यही वक्तव्य है कि संसार में प्रेरक हेतुओं का यदि सम्यक् विचार हुआ करे तो बहुत से आदमी अपने 'अपराध' के उत्तरदायित्व से मुक्त हो सकते हैं। परन्तु वर्तमान अपराध-चिकित्सा में ऐसे बिचारों की गुन्जायश नहीं होती। कानून बहुत से कार्यों के

वाह्य रूप रंग को देख कर ही उन्हें 'अपराध' करार दे देता है। अब हम यह विचार करें कि आज कल अपराधियों का सुधार या इलाज करने का काम जिन लोगों को सौंपा जाता है, वे प्राय: कैसे होते हैं।

आधुनिक अपराध-चिकित्सक—प्रत्येक राज्य में रोगियों के इलाज करने का काम उन्हीं व्यक्तियों के सुपुर्द किया जाता है जिनकी योग्यता और अनुभव के विषय में सरकार को यथेष्ट विश्वास हो। इस बात का भी यथा-सम्भव नियंत्रण किया जाता है कि निजी तौर पर इलाज करने वालों में भी कोई अनाड़ी या अनुभव-हीन न हो; परन्तु विविध देशों की सरकारें अपराध-रोग की चिकित्सा के लिये कैसे आदमियों की नियुक्ति करती हैं? वर्तमान काल में इस विभाग के मुख्य कार्यकर्ता पुलिस, वकील, जज, जेलर, सुपरिन्टेन्डेन्ट, और जेल के पहरुए (वार्डर्स) होते हैं। आओ! इनकी योग्यता का विचार करें।

पुलिस—अपराधियों को गिरफ्तार करने वाली पुलिस की 'योग्यता' के बारे में सब जानते हैं। अनेक देशों में 'पुलिसमेन' बनने के लिये, किसी विशेष योग्यता की आवश्यकता ही नहीं होती। बहुत से स्थानों पर, इस पद के लिए ऐसा ही व्यक्ति उपयुक्त समझा जाता है, जो उच्च पदाधिकारियों की इच्छानुसार जनता के साथ क्रूर से क्रूर व्यवहार करने में संकोच नहीं करता। जिस प्रकार सफाई का डाक्टर (हेल्थ आफीसर) समय समय

पर कुओं में लाल दवाई (पोटेशियम परमेनगनेट) डालते रहते हैं, पुलिस वाले जनता पर अपनी लाल वर्दी, कठोर शब्दों की बौछार, तथा लाठी-मार आदि से आतङ्क वर्षा किया करते हैं, और, जिन व्यक्तियों पर अपराध करने का कुछ भी संदेह हो, उन पर तो अधिक मेहरबानी करना इनका आवश्यक और कठोर कर्तव्य ही होता है। इसे पालन करके वे अपनी 'योग्यता' का प्रमाण दिया करते हैं।

वकील—आज कल अदालतों में गवाह कितनी सच्चाई और ईमानदारी से अपना बयान देते हैं, यह सर्व साधारण से छिपा नहीं। अदालत का चपरासी यंत्र की तरह गवाहों को धर्म और ईमान की सौगन्ध दिला देता है। गवाह तो पहले से ही अपने-अपने पक्ष के वकीलों से पूरा पाठ पढ़कर जाते हैं। जो बातें उन्होंने देखी या सुनी नहीं, या सुनकर भूल गये, उनके सम्बन्ध में 'मौके की' गवाही देने में उन्हें तनिक भी परहेज़ नहीं होता; हां, दूसरे पक्ष के वकील अपने 'कानूनी' प्रश्नों से उनकी बुद्धि-भ्रष्ट कर दें तो इनका चारा नहीं। वास्तव में वकीलों को इस बात से प्रायः कुछ वास्ता ही नहीं होता कि वह किसी घटना की सच्चाई को प्रकाश में लाने का यत्न करें। उनका उद्देश्य तो एक मात्र यह होता है कि जैसे बने अपने मुवक्किल की जीत करायें, जो उनकी जेब भरे, शायद जिससे कुछ प्राप्ति पहले ही पेशगी के रूप में हो चुकी है।

साधारणतया क्या कोई वकील कभी यह चाहेगा कि राज्य में अपराध कम हुआ करें ! यदि वह ऐसी कामना करेगा तो फिर वह खायेगा ही क्या ? मुकद्दमेबाजी घट जाएगी, तो उसकी आमदनी मारी जायगी। मुकद्दमा लड़ाना उसका रोजगार है। किसी का इनसाफ हो या न हो, उसे तो मुख्य चिन्ता इस बात की रहती है कि उसका रोजगार चलता रहे, और इसके लिये यह आवश्यक है कि सर्व साधारण पर उसकी यह धाक जम जाय कि वह अपने वाग्-जाल और धुंआधार भाषण से न्यायाधीश को भ्रम में डालने में अत्यन्त कुशल है। वर्तमान दशा में प्रायः वकील सर्वसाधारण को अधिकाधिक निर्धन, तथा अपराधियों को और अधिक अपराधी, बनाकर सरकारों की झूठी शान बढ़ाने वाले होते हैं। ऐसे रोजगारी अपराध-चिकित्सक किसी देश में जितने कम हों, उतना ही उसके लिये अच्छा होगा।

जज—जज निष्पक्ष होने पर भी कानून से तो बन्धा ही होता है। वकीलों ने यदि अपने वाग्-युद्ध अर्थात् भाषण-चातुर्य से से झूठे को सच्चा कर दिखाया है, तो जज महोदय प्रायः उसे सच मानकर, उसके अनुसार फैसला सुनाने पर बाध्य होते हैं। वकीलों की तरह उन्होंने भी कानून का अध्यन किया है, न कि मनोविज्ञान और समाज शास्त्र का; और यदि उन्होंने यह अध्ययन किया भी हो तो यह किसी और समय के लिये रहेगा। 'न्यायाधीश' की कुर्सी पर विराजमान होने की दशा में, उसका

बहुत कम उपयोग होने की गुंजायश है। यहां तो कानून का आधिपत्य है।

जेलर—जेलों का उद्देश्य समाज-रक्षा बताया जाता है। इससे उनके अधिकारियों का उत्तरदायित्व स्पष्ट है। परन्तु दुःख की बात है कि समाज को ऐसे रक्षक दिये जाते हैं जो प्रायः उसे अत्यन्त हानि पहुंचाने वाले ही होते हैं। उनकी नियुक्ति के विषय में और चाहे जैसे नियम और कायदों का ध्यान रखा जाता हो, पर उनकी ऐसी योग्यता की परख बिल्कुल नहीं की जाती, जिसकी ऐसे कार्य के लिये विशेष आवश्यकता है। उदाहरणवत्, उन्हें मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, तथा दण्ड के सिद्धान्तों का ज्ञान नहीं होता। उन्हें प्रायः कुछ नियम और कानून ही कण्ठाग्र होते हैं। यह दावे से कहा जा सकता है कि चिड़ियाघर में पशु-पक्षियों के रक्षकों को जितना ज्ञान और अनुभव उन प्राणियों के विषय में होता है, उतना ज्ञान जेल के अधिकारियों को मनुष्यों के स्वभाव और प्रकृति के विषय में नहीं होता।

जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट—सरकारी माप के अनुसार सुपरिन्टेन्डेन्ट बहुत ही योग्य व्यक्ति होता है। वह प्रायः सिविल सर्जन होता है, जो जिले भर के रोगियों के चिकित्सा सम्बन्धी कार्यों, अस्पतालों और शफाखानों की देखभाल करता है। चिकित्सा कार्य में वह विशेष योग्यता वाला होता है, अच्छा बढ़िया वेतन और इज्जत पाता है। परन्तु खेद है कि कैदियों के सुधार के लिए इस उच्च

पदाधिकारी की योग्यता का बहुधा कुछ उपयोग नहीं होता। प्राय: यह समझा जाता है कि जेलों का सञ्चालन ऐसे व्यक्ति द्वारा, इस लिये कराया जाता है कि वह कैदियों से उनकी शक्ति के अनुसार काम लेगा, उनके खाद्य पदार्थों आदि की सूक्ष्म जांच करेगा और उनके स्वास्थ्य सम्बन्धी विविध उपायों को काम में लाएगा। परन्तु वास्तव में होता क्या है ? सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब के प्रबन्ध में, बाहरी टीपटाप का खूब ध्यान रखा जाता है। समय समय पर कैदियों के रहने की जगह की लिपाई-पुताई हो जाती है। कैदियों के अनुशासन की भी यथेष्ठ चिन्ता की जाती है; ऐसा न हो कि कोई कैदी कुछ स्वाभिमान का परिचय दे, जिससे अधिकारियों की मान-प्रतिष्ठा (प्रेस्टीज) में किसी प्रकार धक्का पहुंचे। कैदियों को जो भोजन दिया जाता है वह बहुत ही घटिया होने के अतिरिक्त, साफ सुथरा भी नहीं होता। उसमें कूड़ा-कचरा मिला होता है। साग तरकारी की बात यह है कि उन्हें बहुधा उन पत्तों और छिलकों आदि पर संतोष करना पड़ता है जो, जेलर आदि द्वारा असली तत्व के ले लिये जाने पर, शेष रहते हैं। यह सब कुछ चिकित्सा-विशेषज्ञ सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब की अधीनता में होता है, जो इसे जेल के निर्धारित माप के अनुसार 'पास' करते रहते हैं।

क्या हमारे ये चिकित्सक अपराधियों के साथ इतनी सहानुभूति दिखा सकते हैं, कि कम से कम सप्ताह में एक बार वे कैदियों के भोजन को स्वीकार कर लिया करें, जिससे उन्हें यह

प्रत्यक्ष अनुभव हो जाय कि वह कहां तक स्वास्थ-वर्द्धक या स्वास्थ नाशक है।

जेल के पहरुए (वार्डर्स)—जेल के कर्मचारियों में पहरुओं का भी खास स्थान है। कैदियों का इनसे विशेष काम पड़ता है। ये प्रायः जेलर आदि बड़े अधिकारियों के मुंह लगे रहते हैं, और उनकी इच्छानुसार कैदियों का अनुशासन करते हैं। इस के लिये इन्हें कुछ मासिक वेतन भी मिलता है। ये बहुत संस्कृत, अच्छे स्वभाव वाले और सुयोग्य होने चाहिये, यह स्पष्ट है। परन्तु होता यह है कि इनके पद के लिये ऐसे आदमी अधिक योग्य समझे जाते है, जिनमें दया-भाव न हो, जिनकी प्रकृति कुछ हिंसक हो, जो कैदियों को मन-माने ढंग से सता सकें और उनके द्वारा जेल के अफसरों की तन से, मन से, एवं यथा सम्भव धन से भी, यथेष्ट पूजा करा सकें।

भारतवर्ष में यह पद प्रायः पुराने कैदियों को दिया जाता है। आश्चर्य का विषय है कि पुराना अभ्यस्त कैदी होने से किसी व्यक्ति में यह योग्यता मान ली जाय कि वह उस संस्था का सदस्य हो सकता है, जिसका उद्देश्य कैदियों का सुधार या अपराध-निवारण घोषित किया जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि पुराने कैदी वे ही होते हैं, जिन्होंने गुरुतर अपराध किया है, या जो अपराध करने में अभ्यस्त होते हैं। इन में से जो अपने अफसरों के विश्वास-पात्र बन जाते हैं, उन पर ही अधिकारियों की यह

कृपा होती है कि ऐसा उत्तरदायी कार्य सौंपा जाय। कैदियों में कुछ आदमी शिक्षित, सभ्य और सदाचारी भी होते हैं; अनेक राजनैतिक अपराधी तो बहुत ऊंचे चरित्र वाले होते ही हैं, उन पर इन 'अभ्यस्त अपराधियों' का कैसा हानिकर प्रभाव पड़ता है, यह सोचने का विषय है।

डाक्टर साहब ! पहले अपना इलाज करिये—उपर्युक्त प्रकार के अपराध-चिकित्सकों की 'योग्यता' आदि का विचार करने पर प्रत्येक विवेकवान सज्जन यही कहेगा कि "इन से किसी 'अपराधी' का क्या सुधार होगा। ये उसे और अधिक न बिगाड़ें, यही बहुत है।" जो आदमी स्वयं लोभ, लालच, क्रोध, प्रतिहिंसा आदि दुर्भावनाओं से युक्त हो, उससे दूसरों के सुधार की आशा करना निरा उपहास नहीं तो क्या है।

हमारी 'विश्व वेदना' में बताया गया है कि एक आदमी पाव भर अन्न चुराने के अपराध में, घटना-चक्र से जेल में जाता है। वहां वह कहता है, "क्या मुझे गिरफ़ार करने वाले पुलिस के सिपाही ने कभी पाव भर अन्न के बराबर भी 'रिश्वत' न ली होगी ? क्या मेरे विषय में न्याय करने वाले मेजिस्ट्रेट ने कभी पाव भर अन्न के बराबर भी 'डाली' आदि की भेंट न ली होगी ? जिस जेलर ने मुझे अपनी अधीनता में ग्रहण किया है, क्या वह अपनी छाती पर हाथ रख कर कह सकता है कि उसने उस समय तक कुल मिला कर जितनी 'ऊपर की आमदनी' पायी है,

वह पाव भर अन्न के सौ पचास गुना भी न होगी ? फिर ये सब कैदी क्यों नहीं? और, मैं ही कैदी क्यों ?……” जिन चिकित्सकों के विषयों में 'अपराधी' की ऐसी धारणा हो, उनसे उसका क्या इलाज होना है ! अवश्य ही उनसे यह कहना उचित होगा, 'मेहरबान ! तुम हमारा इलाज करने चले हो, अच्छा हो, पहले तुम स्वयं अपना तो इलाज कर लो ।'

विशेष वक्तव्य—सेवा और परोपकार भाव से प्रेरित, रोगों के कारणों और उनके निवारण के उपायों पर वैज्ञानिक अनुसंधान करने वाले, व्यक्तियों की वृद्धि तो समाज के लिये शुभसूचक ही होती है, परन्तु इस के विपरीत जब पेशेवर स्वार्थी और लोभी आदमी कुछ उलटी-सीधी अधूरी तथा बे-मेल बातें पढ़-सुनकर वैद्यराज बन जाते हैं तो समाज का भारी अहित होता है; ये लोग अपने लोभ तथा अज्ञान वश भोले भाले आदमियों में मनमानो दवाइयों का प्रचार करते हैं और फल-स्वरूप नये नये रोगों और बीमारों की वृद्धि करते हैं ।

यही बात अपराध-चिकित्सकों के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है । आज कल जहाँ देखो, पुलिस, वकील, अदालतों, जजों, जेलरों और कैदखानों का बाहुल्य है । यदि इन व्यक्तियों और संस्थाओं में स्वार्थ और अज्ञान* की भरमार न होती तो इनके विरुद्ध

*अज्ञान से यहां हमारा अभिप्राय समाज शास्त्र, मनोविज्ञान, शरीर शास्त्र, प्रकृति विज्ञान, और संस्कृति-विज्ञान सम्बन्धी अज्ञान से है ।

कुछ कहने की बात न थी, परन्तु वर्तमान दशा में ये व्यापारिक ढंग से काम कर रही है, रुपया पैदा करना, और आतंक जमाना इनका लक्ष्य बना हुआ है। ऐसी चिकित्सा-शैली पर भली भांति विचार करने से मालूम होता है कि इस के व्यवहार से अपराधों की संख्या घटने के बजाय भयंकर रूप से बढ़ती जाती है। परमात्मा ऐसी चिकित्सा से प्रत्येक राज्य की रक्षा करे।

तीसरा परिच्छेद

—:०:—

बेंत की सज़ा

'कई अंशों में बेंत फांसी की सज़ा से कहीं रौद्र है; उस में पशुता का समावेश बहुत अधिक है।'

—'अर्जुन'

अपराध-रोग की मुख्य चिकित्सा—यद्यपि भिन्न भिन्न देशों में समय समय पर कुछ ऐसे विद्वान होते रहे हैं जिन्होंने अपराध-रोग के निवारण के सम्बन्ध में अपने तरह तरह के विचार प्रकट किये हैं, प्राय: प्रत्येक राज्य ने चिरकाल से इसके लिये दंड का आश्रय लिया है। आज कल भी जब किसी व्यक्ति को अपराधी मान लिया जाता है तो मुख्य प्रश्न उसके लिये दंड निश्चित करने का समझा जाता है। अपराध-रोग की चिकित्सा के लिये

दंड प्रणाली में अत्यंत विश्वास किया जाता है। इस प्रणाली का समय समय पर विरोध होने पर भी, दंड की मात्रा या प्रचार में अभी विशेष अन्तर नहीं हुआ है। बात यह है कि सर्व-साधारण में जो चाल या रीति एक बार जारी हो जाती है, वह सहसा, बिना विशेष आंदोलन किये, नहीं हटती। लोगों को उसे बनाये रखने का कुछ न कुछ आधार या बहाना मिल ही जाता है। अनेक आदमी तो कुछ विशेष विचार करने का कष्ट ही नहीं उठाते। वे समझते हैं कि जब हमारे पूर्वजों ने यह रीति निकाली है तो इसमें अवश्य कुछ आसाधारण गुण होगा, यदि हमें वह गुण दृष्टि-गोचर नहीं होता तो यह हमारी अल्पज्ञता है।

शारीरिक दंड—संसार में दंड प्रथाएं, और उनमें भी शारीरिक दंड की प्रथा कितनी प्रचलित है! बालक अपनी स्वच्छंदता की सूचना देते हुए, मां बाप के आदेश की अवहेलना करता है, और मां बाप का कुछ और वश नहीं चलता तो वह उसे थप्पड़ आदि मारते हैं, और इस प्रकार केवल अपने शारीरिक बल से उसका नियंत्रण करके अपनी अल्पज्ञता का परिचय देते हैं। स्कूल में जब विद्यार्थी की कोई ऐसी बात देखने में आती है जो मास्टर साहब को पसन्द न हो, या जिससे स्कूल के नियमों के प्रति उदासीनता, और अनुशासन की कमी प्रतीत हो, तो साधारण अविवेकी मास्टर साहब उस पर थप्पड़ या बेंत की वर्षा करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। यहां तक कि कहावत प्रसिद्ध हो गयी है

कि लाड़ (प्यार) करने में बहुत दोष है और ताड़न करने में बहुत गुण हैं।

दुनिया का प्राचीन इतिहास बतलाता है कि समाज ने अपने अपराधी के लिये इसी सिद्धांत का और भी कठोरता से पालन किया है। भिन्न भिन्न राज्यों ने अपराधी नागरिकों को शारीरिक दंड देने की अनेक प्रकार की रीतियां आविष्कृत की। अच्छे अच्छे मस्तिष्कों को इस कार्य के लिये लगाया गया। कहीं कहीं अपराधियों की आंखों में मिर्चें भरी जाने की व्यवस्था की गई। कहीं उन्हें खड़ा करके उनके हाथ पांव इस प्रकार बांधे गये कि वे दिन रात बैठ ही न सकें, अथवा यदि वे जरा भी हिलें-डुलें तो उनके बदन में चहुंओर नोकदार कीलें घुस जाँय। कहीं कहीं उन्हें दुर्गंध-युक्त स्थानों में बंद किया गया। अनेक स्थानों में उन्हें भूखा और प्यासा रक्खा गया। बहुत से स्थानों में अपराधियों के अंग भंग किये जाते रहे हैं। कितनों ही पर गुप्त या प्रकट होने वाले भयंकर प्रहार किये गये। अवश्य ही अनेक व्यक्तियों ने ऐसे कष्टों को भोगने की दशा में, जीवित रहने की अपेक्षा मर जाना अच्छा समझा। परन्तु समाज ने उन्हें जान बूझ कर जीवित रखा, जिस से वह चिरकाल तक कष्ट भोगें, और दूसरे आदमी उनको कष्ट भोगते हुए देख कर भयभीत रहें, और समाज का आतंक मानें।

समय ने पलटा खाया, लोगों में सहानुभूति और अनुकम्पा का भाव बढ़ा। उन्हें दूसरों के दुखों का अनुभव हुआ। वे विवेक उदारता तथा नम्रता का उपयोग करने लगे। शारीरिक दंडों का

कानून द्वारा कुछ ह्रास हुआ। परन्तु अभी भी दुनिया पूर्ण रूप से अपने पाशविक स्वभाव से छुटकारा नहीं पा सकी है। आज कल अपराधियों को जिन औषधियों का अनुपान कराया जाता है, अर्थात् दंड विधान के अनुसार जो दंड दिये जाते हैं, वे निम्न-लिखित हैं :—

(१) बेंत लगाना।

(२) जुर्माना तथा माल की ज़प्ती।

(३) रिफार्मेटरी या सुधारशाला में रखना।

(४) कैद।

(५) नजरबन्दी, कालापानी, या देश-निर्वासन।

(६) फांसी।

इन पर क्रमशः विचार किया जायगा। पहले इस लेख में, बेंत की सज़ा के विषय को लेते हैं।

बेंत की सज़ा—प्रायः छोटी उम्र के अपराधियों को, तथा कुछ घोर अपराध करने वाले प्रौढ़ व्यक्तियों को, यह दण्ड दिया जाता है। कैदियों को भी कभी कभी जेल में किये गये किसी अपराध के वास्ते बेंत लगाया जाता है। इस सज़ा के समर्थकों का यह ख्याल है कि इस से दो लाभ होते हैं; एक तो यह कि अपराधी इस से शारीरिक कष्ट पाकर इतना पीड़ित तथा भयभीत हो जाता है कि वह फिर कभी कोई अपराध करने का दुस्साहस नहीं

करता। दूसरे यह कि उसे यह सज़ा पाते देख कर तथा उसकी कष्ट-कहानी सुनकर अन्य व्यक्ति भी अपराध करने का विचार मन में नहीं लाते।

परन्तु यह अधिकांश में कोरी कल्पना है। वस्तु-स्थिति से, प्रमाणों से, यह बात सिद्ध नहीं होती। अपराधियों को बेंत लगाना कई दृष्टियों से अहितकर है पहले हम बेंत लगाने वाले की दृष्टि से विचार करते हैं।

बेंत लगाने वाले की दृष्टि से—प्रायः इस दृष्टि-कोण से इस विषय पर विचार ही नहीं किया जाता। यह समझा जाता है कि बहुत से आदमियो में, हजारों अथवा लाख दो लाख की आबादी वाली बस्ती में, दो एक आदमी इस काम को करने वाले रहें तो इस से सामाजिक जीवन या वातावरण पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु यह वास्तव में ठीक नहीं है। ऐसे आदमी का दुष्प्रभाव उस के परिवार के सदस्यों तथा अन्य साथियों तक ही सीमित नहीं रहता, बरन् उसके कीटाणु सार्वजनिक जीवन में हिन्सा करने और बदला लेने आदि के भावों का प्रचार करने में सहायक होते हैं! और, यह बात समाज के सत्कार्यों की घातक होती है। इस प्रकार गम्भीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बेंत लगाने वाला व्यक्ति वास्तव में समाज का हितैषी न होकर, कुछ अंश में विध्वंसक है। वह अपने लिये तो अच्छा जीवन व्यतीत करता ही नहीं है, कारण, वह मानवी गुणों से

अधिकाधिक वंचित होता रहता है। ऐसे व्यक्ति की नैतिक अवनति में संदेह ही क्या है!

दर्शकों की दृष्टि से—इस निन्दनीय दंड को देने वाला तो जैसा होता है, होता ही है; इसे देखने वालों पर भी इस का अच्छा असर नहीं पड़ता। बहुधा आदमी इस दंड को क्रूर समझ कर, अपराधी के अपराध को भूल जाते हैं, और उस से सहानुभूति करने लगते हैं। इस से स्पष्टतः दंड का उद्देश्य निर्मूल हो जाता है। बेंत की सजा कितनी अमानुषिक है, इसे वही लोग जान सकते हैं, जिन्हों ने कभी यह सजा दी जाने का प्रत्यक्ष अनुभव किया हो। सुप्रसिद्ध 'आज' सम्पादक ने एक बार इस सजा को मिलते देख कर इसे 'मनुष्य-द्रोही शैतान का आविष्कार' कहा था। वह ठीक ही है। आप ने लिखा था :—

"हम ने स्वयम् एक बालक को कलकत्ते में देखा था, जिसे बहुत ही साधारण अपराध में १२ बेंत की सज़ा दी गयी थी। सज़ा पाने के बाद बेचारे के × × में सूजन आगयी थी जो देखी नहीं जाती थी। पर उसे उस का भी उतना दुख नहीं था, जितना तज्जन्य अपमान का था। अभागे ने तीन दिन तक उपवास किया और उस के साथ उसकी वृद्धा माता ने अनशन किया। बहुत समझाने के बाद चौथे दिन उसने अन्न ग्रहण किया, पर रुलाई के कारण वह उस के गले के नीचे उतरता ही नहीं था। बड़ा ही करुणाजनक दृश्य था। उस की दशा देख कर आंखों में आंसू भर आते थे, और यह विचार आप ही आप मन में उत्पन्न होता था कि साधारण अपराध के लिये बालकों को बेंत लगाने की प्रथा का आविष्कार मनुष्य-द्रोही शैतान ने ही किया होगा।"

अपराधी का पतन—बेंत लगाने की प्रथा में अपराधी के लिये पतन का मार्ग स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है। वह अपने आपको अपराधी मानने लगता है, बार बार अपने अपराध की कल्पना करते करते वह उसे अपने चिन्तन और मनन का विषय बना लेता है। इससे उसकी अपराध करने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। लोक-लाज, विनय और संकोच जो उसकी पहले रक्षा कर सकते थे, उनका अब ह्रास होता जाता है। वह जज को और कोड़े लगाने वाले को विशेष रूप से अपना शत्रु समझने लगता है। उसमें समाज के प्रति प्रतिहिंसा की भावना का उदय हो जाता है। वह सोचता है कि दर्शक उसे पतित समझते हैं, उनकी इस धारणा को बदलने में अपने आपको असमर्थ जान कर वह उनके प्रति, और इस प्रकार सर्व साधारण के प्रति, दुर्भाव रखने लगता है। मानसिक कष्ट से पागल हो जाने के कारण भी उसे बार बार अपराध करने की प्रेरणा होती है। निदान, उसके अधिकाधिक अपराधी बनने की तैयारी हो जाती है; इससे उसकी ही नहीं, समाज और राज्य की भी बड़ी हानि होती है।

आत्म-ग्लानि और समाज-विद्रोह—वास्तव में बहुत से आदमी उस मानसिक कष्ट का अनुमान नहीं करते, जो किसी अपराधी को बेंत लगाने से हो सकता है। खुले आम लज्जित और अपमानित होने पर उसके मनुष्यत्व का ह्रास हो जाता है। वह अपने जीवन का कुछ मूल्य नहीं समझता। वह मरने से नहीं

घबराता, वरन् वह मृत्यु का स्वागत करने वाला होजाता है। ऐसा आदमी समाज-विद्रोही हो तो क्या आश्चर्य! वह जो कुछ भी उत्पात् करे, कम ही समझना चाहिये। ऐसे भयंकर व्यक्तियों से किसी देश का जितना कम सम्बन्ध हो, उतना ही उसके लिये अच्छा है। और, इन अनिष्टकारियों की संख्या बढ़ाने की रीति, बेंत लगाने की प्रथा, जितनी शीघ्र किसी राज्य से उठ जाय उतना ही हितकर है।

जागृत लोक मत—जो व्यक्ति दंड को सुधार के लिये ही मानते हैं, उनका मत इस क्रूर प्रथा के विरुद्ध ही होता जाता है। इस सम्बन्ध में हम एक योरपियन सज्जन श्री० आर. सी. लौरियर के मत का उल्लेख करना इस लिए आवश्यक समझते हैं कि आप को इस विषय का प्रत्यक्ष अनुभव था; आप पंजाब में पुलिस सुपरिंटेन्डेन्ट थे। सन् १९०७ ई० से १९२० ई० तक तेरह वर्ष आप पुलिस विभाग में रहे। आपका कथन है, "कोड़े लगाने के सम्बन्ध में लोकमत में, और विशेषतः शिक्षित लोकमत में, जो उदासीनता दिखायी देती है उसका कारण यह है कि लोगों को इस की अत्यन्त घृणित दशा के सम्बन्ध में बिलकुल अज्ञान है।" वास्तव में यह प्रथा सभ्यता के लिये कलंक स्वरूप है। पिछले दिनों 'हावर्ड लीग' ने इस विषय की एक छोटी सी पुस्तक 'शारीरिक दंड'* प्रकाशित की थी, जिसमें कई एक चिकित्सकों

---

* Corporal Punishment.

और समाज-शास्त्रियों के मत का उल्लेख है। सुप्रसिद्ध अंग्रेज डाक्टर ग्रुवर इसमें लिखते हैं कि 'कोड़े की सजा अपराधी को अपराध पर विचार करने का अवसर नहीं देती। इससे अपराध करने की प्रवृति पैदा होती है।' क्या भिन्न भिन्न देशों के दंड विधान के निर्माता तथा विविध स्थानों के दंड-योजना करने वाले इन बातों पर विचार करने का कष्ट उठावेंगे ?

इस प्रथा का अन्त होना आवश्यक है—यद्यपि अभी इस दिशा में महान प्रयत्नों की बहुत आवश्यकता बनी हुई है, कहीं कहीं इस ओर व्यवस्थापकों का ध्यान आकर्षित हुआ है। किसी किसी देश में तो पहिले बेतों की मार से अपराधी के बदन की खाल उखड़ जाना और उसका मांस तक कट जाना मामूली बात थी। अब इस में कुछ सुधार हुआ है; जिस जगह बेंत लगाने होते हैं, वहां एक कपड़ा रख दिया जाता है, इस से शारीरिक कष्ट पहले के समान नहीं होता। परन्तु इस से भी अपराधी का अपमान और मानसिक कष्ट तो कुछ कम नहीं होता। इस विचार से बहुत से पाश्चात्य देशों में इस दंड का अन्त हो गया है। परन्तु अन्यान्य देशों में, भारतवर्ष में इस का बड़ा जोर है !

इस कुप्रथा को जारी रखने का एक कारण यह बताया जाता है कि साधारण अपराध के अपराधियों को भी कुछ न कुछ दंड तो मिलना ही चाहिये, और उन के वास्ते बेंत की सजा ही उत्तम

है; फिर, यदि बालक-अपराधियों को कैद की सजा दी जाय तो जेल में अन्य अपराधियों के साथ रहने से उनके और अधिक बिगड़ने की आशंका रहती है।

ऐसा कहने वाले यह नहीं सोचते कि यदि बालक-अपराधियों के वास्ते और कोई दंड ठीक नहीं मालूम होता तो उन्हें यह पाशविक दंड देना ही कहां का न्याय है ? बेंत लगाने की प्रथा अत्यन्त निन्दनीय है; विशेषतया इस वास्ते यह और भी चिन्तनीय है कि इस का सम्बन्ध भावी नागरिकों से, देश के सुकुमारों से है, जिन के भविष्य पर राज्य के भविष्य का बनना बिगड़ना, बड़ी सीमा तक निर्भर है। यह कदापि उचित नहीं है कि उनमें से लोकलाज का भाव निकाल दिया जाय, तथा उन में आत्म-ग्लानि की दुर्भावना का संचार किया जाय। इस लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि बेंत लगाने की प्रथा प्रत्येक प्रजा-हितैषी राज्य से बालकों के लिए तो पूर्णतया, और प्रौढ़ आयु के अपराधियों के लिए अधिकांश, में उठा दी जाय। गुंडेपन या बलात्कार आदि जिस विशेष दशा में इस सजा का नियम रखना हो, उसके लिए मनोविज्ञानवेत्ता, अपराध-विशेषज्ञ विद्वान मिल कर विचार करें। स्मरण रहे कि समाज में ऐसी दशा केवल अपवाद-रूप होनी चाहिए, साधारणतया इस दण्ड को उपयोग में न लाने का ही नियम रहना चाहिए।

चौथा परिच्छेद

—:o:—

जुर्माना और माल की ज़ब्ती

पिछले परिच्छेद में शारीरिक दंड और विशेषतया बेंत की सज़ा के बारे में विचार किया गया है। अब हम आर्थिक दंड, अर्थात् जुर्माने और माल की ज़ब्ती के विषय में विचार करते हैं।

जुर्माने का हेतु; राज्य की आय?—किसी अपराधी पर जुर्माना करने के दो उद्देश्य हो सकते हैं:—एक तो अपराधी को दंड देना, दूसरा, राज्य की आय बढ़ाना। इन में से दूसरा उद्देश्य तो प्रायः गौण होता है, जहां यह गौण नहीं होता, वहां भी गौण होना चाहिये। यदि राज्य की आमदनी ही जुर्माना करने का मुख्य उद्देश्य हो तो इस अधिकार का अदूरदर्शी न्यायाधीश बहुत दुरुपयोग कर सकते हैं। उनकी यह धारणा हो सकती है कि हम जुर्माने का दंड जितने अधिक अपराधियों को, अथवा जितनी अधिक मात्रा में देंगे उतना ही राज-कोष की वृद्धि करके हम राज्य की अधिक सेवा करेंगे। जिस प्रकार लोभी वैद्य या डाक्टरों से रोगियों का बहुत कम हित-साधन होता है, और कभी

कभी तो उलटा उनके रोग की वृद्धि हो जाती है, ऐसे ही उपर्युक्त धारणा वाले न्यायाधीश से राज्य की अच्छी सेवा नहीं होती, वरन् वह राज्य के अधिक विकार-ग्रस्त होने में सहायक होता है। अस्तु, जुर्माने का उद्देश्य राज्य की आय-वृद्धि होना सर्वथा अनुचित है, और किसी सभ्य राज्य को ऐसा उद्देश्य रखना शोभा नहीं देता।

अपराधी को दंड—जुर्माने का मुख्य उद्देश्य अपराधी (या उसके अभिभावक या संरक्षक)* को दंड देना ही हो सकता है। हमारी भौतिक आवश्यकताओं तथा सुख सुविधाओं के विविध साधन रुपया खर्च करने से मिलते हैं, और जब अपराधी पर जुर्माना होता है तो उसे या उस के सम्बन्धियों को परोक्ष रूप से उन साधनों की पूर्ति की कमी का कष्ट हो जाता है। जो लोग अपनी भावी आवश्यकताओं, अथवा अपनी संतान, के लिए संचित किये हुए द्रव्य में से जुर्माना देते हैं, उन्हें भी किसी न न किसी रूप में उपर्युक्त कष्ट पहुंचता है। इस प्रकार जुर्माने का उद्देश्य अपराधी या उस के सम्बन्धियों की वर्तमान या भावी आवश्यकताओं की पूर्ति में कुछ अंश तक बाधा डालना है। यह दंड बहुत कुछ ऐसा ही है, जैसा कि माता पिता का अपने बालक को, उसकी किसी भूल पर, उस दिन या अगले दिन खाने को न देना, अथवा उसे मनोरञ्जन के साधन से बंचित करना। यह

* कभी कभी पुत्र के अपराध में पिता, पर तथा स्त्री के अपराध में पति पर जुर्माना किया जाता है।

स्पष्ट है कि ऐसे दंड से दंडित व्यक्ति की कोमल भावनाएं जागृत नहीं होतीं, वरन् उस पर एक प्रकार का शारीरिक या पाशविक नियंत्रण किया जाता है। हां, माता पिता का यह कार्य व्यक्तिगत तथा छोटी आयु वालों के लिए होता है, तो राज्य का यह कार्य सार्वजनिक, व्यापक क्षेत्र में, तथा बड़ी उम्र वालों के लिए होता है। इससे राज्य का कार्य कितना अधिक दोष-युक्त है, वह बतलाने की आवश्यकता नहीं।

जुर्माना और लोभ की प्रवृति—यह कहा जाता है कि जुर्माने से उन अपराधियों का सुधार होने में सहायता मिलती है जिन्होंने लोभ या लालच वश अपराध किया हो। यह कथन भी बहुत थोड़े अंश में ही सत्य हो सकता है। वास्तव में मनुष्यों के लोभ लालच का रोकना इतना सरल कदापि नहीं है, जितना उपर्युक्त कथन करने वाले समझने की भूल करते हैं। मानव चरित्र बहुत पेचीदा और रहस्यमय है, इसमें परिवर्तन या संशोधन करने के लिए मनोविज्ञान के अनुकूल विविध उपाय काम में लाने चाहिये। उनके अभाव में, जुर्माने आदि के बाहरी दबाव से लोगों के लोभ की प्रवृति का नियंत्रण करना निरी अल्पज्ञता है। यह कार्य किसी रक्त-विकार के रोगी को रक्त-शोधक औषधी न देकर, उसके पके हुए फोड़ों पर कुछ ऐसी मल्हम लगा देने के समान है, जो सम्भव है, न केवल अन्य उभरने वाले फोड़ों को आराम न पहुँचाए, वरन् उस पके फोड़े के लिये भी

अधिक कष्ट-जनक हो। जुर्माने के भय से लोभ की प्रवृति कुछ समय के लिये दब भले ही जाय, परन्तु मौका पाकर वह फिर उभरेगी और सम्भव है, कि और भी अधिक उग्र रूप में प्रकट हो।

पुनः यह जुर्माने का दंड केवल लोभ-जनित अपराधों के लिये ही तो नहीं दिया जाता। बहुधा अन्य अपराधों के लिये भी इसका उपयोग किया जाता है। उस दशा में इसका सफल होना और भी अधिक संदिग्ध है।

धनवानों पर जुर्माने का असर—जुर्माने के दण्ड से अपराधी का (अथवा समाज का) कहां तक हित साधन होता है, यह तो दूसरी ही बात है। हां, इससे हानि उतनी नहीं होती जितनी अन्य दण्ड से होती है; (दण्ड विधान के बहुत दूषित होने की अवस्था में इसे भी गनीमत समझना चाहिये)। परन्तु यह कथन उन्हीं आदमियों के सम्बन्ध में है, जो निर्धन नहीं होते, जिनमें जुर्माना चुकाने की शक्ति होती है; ये लोग जुर्माने की रकम चटपट चुका सकते हैं, और अन्य लोगों को कभी कभी उनके अपराधी होने की ख़बर तक नहीं होती। कुछ दशाओं में तो जुर्माना एक उपहास सा हो जाता है। उदाहरणार्थ मिश्र बन्धुओं की 'व्यय' नामक पुस्तक में लिखा है कि एक महाशय रेलगाड़ी में सवार थे, भूल से उनके हाथ से एक शीशा टूट गया। 'गार्ड' को पता लगा तो उसने उनसे कुछ रुपये दंड-स्वरूप मांगे।

उन्होंने शीघ्र ही दो और शीशे जान बूझकर तोड़ दिये, और 'गार्ड' को तिगुने रुपए दंड-स्वरूप एवं दस रुपये इनाम की भांति तत्काल ही दे दिये। यद्यपि ऐसे उदाहरण कम होते हैं, यह तो स्पष्ट ही है कि धनवान लोगों पर जुर्माने का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

गरीबों की बरबादी—अब गरीबों का विचार करें—आज कल प्रत्येक देश में अधिकांश संख्या इन्ही की होती है। ये बेचारे जुर्माने की रकम सहसा अदा नहीं कर सकते, और इस लिये प्रायः जेल के मेहमान बनते हैं। परन्तु इससे इनकी, जुर्माने के दंड से मुक्ति नहीं होती। इन्हें जेल भेज कर, अधिकारियों की नजर इनके माल असबाब पर पड़ती है, पर जुर्माना वसूल करना होता है, नक़दी में। इसलिये वे उस माल असबाब को जल्दी से जल्दी नीलाम करके, जितना रुपया मिले, प्राप्त करने की फिकर में रहते हैं। अपराधी के साथ उनकी कोई सहानुभूति तो होती ही नहीं, फिर उसके माल असबाब के वास्ते भी उनके दिल में कुछ दर्द न हो, तो क्या आश्चर्य! और, बाजार का यह साधारण नियम है कि जब माल बेचने वाले को जल्दी होती है तो ग्राहक उपेक्षा करते हैं, इससे नीलाम होने वाले सामान के दाम कम उठना स्वाभाविक ही है। फिर, ऐसे प्रसंग पर बहुत से आदमियों में भावुकता का विचार जागृत हो जाता है, उन्हें इस बात की मन ही मन चिन्ता होती है कि एक आदमी अपने माल असबाब से

वंचित किया जा रहा है। उनकी कुछ ऐसी धारणा होती है कि उस सामान को मोल लेना एक हृदय-द्रावक कार्य में सहयोग देना है। इसलिए वे इसमें किसी का भाग लेना निन्द्य समझते हैं, और स्वयं तो उसमें सम्मिलित ही नहीं होते। इससे ग्राहकों की और भी कमी हो जाती है। यही कारण है कि बहुधा एक रुपये के माल के केवल तीन चार आने तक उठने के उदाहरण मिला करते हैं। इस प्रकार जुर्माने की रकम वसूल करने के लिये उससे कई गुने मूल्य का सामान बेच दिया जाता है। जिन गरीब लोगों पर, कुछ भारी जुर्माना होता है, उनकी पूरी आर्थिक बरबादी समझनी चाहिए। फिर, उनसे अच्छे नागरिक जीवन की क्या आशा रखी जाय!

अस्तु, आर्थिक दंड या जुर्माने का उद्देश्य यदि अपराधी नागरिक का सुधार, अथवा राज्य में अपराधियों की संख्या कम करना, हो तो वह प्रायः पूरा नहीं हो सकता।

माल की ज़ब्ती—कहीं कहीं कुछ दशाओं में घोर राजद्रोह आदि के कारण, अपराधी का माल असबाब या जायदाद ज़ब्त कर ली जाती है। जो बातें भारी जुरमाने के कारण होने वाले नीलाम के सम्बन्ध में ऊपर लिखी गयी है, वे सब माल की ज़ब्ती के विषय में चरितार्थ होती हैं; हां अधिक माल की ज़ब्ती होने की दशा में वे सब दुष्परिणाम शीघ्र ही दृष्टि-गोचर हो जाते हैं। किसी आदमी को उसके जीवन-निर्वाह के अत्यन्त

आवश्यक साधनों से वंचित कर देना मानों उसे समाज और राज्य के प्रति घोर शत्रुता करने के लिये आमंत्रित करना है। यदि पहले उसके सुधार की थोड़ी बहुत गुंजायश भी थी तो अब उन्हें आवारा बना कर, राम-भरोसे छोड़ कर, उनके सुधार और उन्नति का ही सब रास्ता बन्द नहीं किया जाता, वरन् उन के द्वारा होने वाली प्रतिहिंसा के लिये अपनी तैयारी करनी पड़ती है। आह! इस प्रकार कितनी शक्ति व्यर्थ जाती है, और कितनी का दुरुपयोग किया जाता है।

नैतिक दुष्परिणाम—माल की ज़ब्ती के मानसिक और नैतिक दुष्परिणाम भी कम विचारणीय नहीं हैं। मनुष्य का स्वभाव है कि जो चीजें उस के पास रहती है, जिन से उसका सम्बन्ध रहता है, उनसे उसे क्रमशः बहुत ममता हो जाती है। बहुधा बच्चों को देखा गया है कि वे घर के कुत्ते बिल्ली को भी बहुत प्यार करते हैं, और, उनके सुख सुविधाओं की अपनी ही तरह, और कभी कभी तो अपने से भी अधिक, चिन्ता किया करते हैं। जब कभी आदमी एक मकान छोड़ कर दूसरे मकान में रहने लगते हैं तो उनके बच्चों को बहुधा पुराने मकान की याद आया करती है। प्रौढ़ आयु वालों में भी यह बात मिलती है। अनेक बार जब अन्न वस्त्रादि की अत्यन्त आवश्यकता ने लोगों को अपने गाय, बैल, भैंस, घोड़ा या मकान आदि बेचने का विचार करने के लिये बाध्य किया है तो उन्होंने अपने आप को बड़े धर्म-संकट में पड़ा

हुआ समझा है। पहले वे बेचने को तैयार हो जाते हैं, ग्राहक से बात चीत भी करने लगते हैं, मूल्य भी बहुत कुछ निश्चित सा हो जाता है, परन्तु इतने में उस वस्तु के प्रति उनका आन्तरिक स्नेह उमड़ पड़ता है, अथवा घर की महिलाएं या बच्चे ही उस वस्तु को पृथक् करने का विरोध करते हैं, यहां तक कि उसे बेचने के बिचार को स्थगित करना पड़ता है। जहां तक बन आवे, वे भूख, प्यास, और सर्दी गर्मी से होने वाला कष्ट सहना स्वीकार करते हैं और उस बस्तु के वियोग का अवसर नहीं आने देते।

यह बात तो उन लोगों के सम्बन्ध की हुई, जो स्वयं अपनी आवश्यकताओं से विवश होकर अपने माल असबाब के किसी अंश को पृथक् करने का विचार करने के लिये वाध्य होते हैं। ये लोग अपने कार्य के वास्ते स्वाधीन होते हैं, उसे करने न करने का अधिकार स्वयं उन को ही होता है। इन्हें अपनी वस्तुओं के बदले में भोजन वस्त्र जैसे आवश्यक और उपयोगी पदार्थ मिलते हैं, तो भी वे अपनी चिर परिचित स्नेह-युक्त बस्तुओं को दूर करने में बड़ा कष्ट मानते हैं। तब, उन लोगों की मानसिक दशा का सहज ही अनुमान किया जा सकता है जो बाहरी शक्ति (राज्य) द्वारा अपनी वस्तुओं को छोड़ने, और इन के बदले में कुछ भी न पाने के लिये बाध्य किये जाते हैं। जो आदमी यह सोचता है कि कल तक मैं मकान वाला था, आज मुझे कहीं रहने को ठौर नहीं ; पहले, समाज में मेरा कुछ स्थान था, अब मेरी हैसियत बिगड़ गयी, खाने पीने को सामग्री से भी वंचित हूँ,

उस आदमी की मनोदशा को भुक्त-भोगी ही जान सकता है। एक एक मिनट चिन्ता का जीवन बिताते हुए, वह कभी कभी मृत्यु का आवाहन करके, कम से कम, चिन्ता से तो मुक्त होना चाहता है। वह अपने जीवन का कुछ मूल्य नहीं समझता, आत्म-हत्या तक से परहेज नहीं करता, फिर यदि वह मरने से पूर्व अपने समाज-विद्रोह के प्रमाण स्वरूप कुछ घोर दुष्कृत्य कर बैठे तो क्या आश्चर्य है! और, हां, क्या इस अपराधी के साथ अनेक नागरिकों की मन ही मन सहानुभूति न होगी? क्या बहुत से आदमी यह कहने वाले नहीं, तो कम से कम, सोचने वाले भी न मिलेंगे कि इस व्यक्ति ने जो कार्य—वह कार्य कितना ही निन्दनीय क्यों न हो—किया है, वह इस व्यक्ति की तत्कालीन परिस्थिति में किया जाना नितान्त स्वाभाविक था। और, राज्य में अपराधियों से सहानुभूति रखने वाले आदमियों का होना राज्य के लिए कैसा अहितकर है, यह पाठक स्वयं विचार सकते हैं, हम ने भी इस का कुछ विचार अन्यत्र किया है।

अपराधियों की वृद्धि—भारी जुरमानों या माल की ज़ब्ती के विषय में विशेष चिन्तनीय बात यह है कि 'अपराधी' माने जाने वालों के साथ इन के परिवार वालों को भी दंड भुगतना पड़ता है। वे अपनी अत्यन्त आवश्यकता के पदार्थों से भी वंचित हो जाते हैं, इस दशा में वे या तो आवारा होकर समाज और राज्य में अपराधियों की संख्या बढ़ाने वाले होते हैं, अथवा भूख प्यास से

व्याकुल होने की दशा में अपने प्राण विसर्जन करते हैं। निदान, इन दंडों से अपराधियों का सुधार होना तो दूर रहा, उलटा उन के परिवार आदि के निरपराध आदमियों के भी अपराधी होने की सम्भावना हो जाती है। क्या भिन्न भिन्न राज्यों के शुभचिन्तक इन दंडों के इस पहलू पर गम्भीरता और शान्ति से विचार करके अपने मानव प्रेम का कुछ परिचय देंगे? आशा है, वे लोग पुराने नियमों और कानूनों के संशोधन में अपने स्वतंत्र चिन्तन का उपयोग करना कुछ 'पाप' न समझेंगे, विशेषतया जब कि ऐसा करने से वे अपने अनेक सजातीय बन्धुओं का, मनुष्यों का, और उनके साथ स्वयं राज्य का कुछ हित-साधन कर सकेंगे।

पांचवां परिच्छेद

—:०:—

रिफार्मेटरी या सुधार-शाला

अधिकतर अपराधों के लिए कैद की सज़ा होती है, और यह दंड पाने वाले व्यक्ति जेलों में रखे जाते हैं। इन के सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा। पहले उन संस्थाओं के विषय में कुछ जान लेना आवश्यक है, जहां छोटी उम्र के अपराधी रखे जाते हैं, और जिन्हें सुधारशाला या 'रिफार्मेटरी' कहा जाता है।

सुधार-शालाएं या विगाड़-शालाएं ?—दंड का उद्देश्य यह बताया जाता है कि अपराधी को ऐसी परिस्थिति में रखा जाय जिस में उस का सुधार हो, उसका अपराध करने का अभ्यास न रहे। इसी बात को लक्ष्य में रख कर बालक-अपराधियों के लिये सुधार-शालाओं की व्यवस्था की जाती है। ये संस्थाएं अपना उद्देश्य कहां तक पूरा करती हैं ?

प्रायः सुधार-शालाओं में अपराधी को ऐसी संगति और वातावरण मिलता है कि वे वहां अपराध विषय की प्रारम्भिक शिक्षा पा लेते हैं। वे जान लेते हैं कि अपराध करने पर भी गिरफ्तारी से किस प्रकार बचा जा सकता है। इन संस्थाओं से निकल कर वह अपनी योग्यता की परीक्षा लेते हैं, और यदि असावधानी या संयोग से वह इसमें विफल रह जांय तो उच्च शिक्षा लेने तथा स्नातक का डिप्लोमा या डिगरी प्राप्त करने के लिए जेल-रूपी महाविद्यालय में प्रवेश करने को तैयार रहते हैं, जहां उन्हें अपने विषय का विशेषज्ञ होने तथा उस में तरह तरह के अनुसंधान और आविष्कार करने की उच्च कोटि की विविध सुविधाएं और साधन मिल सकें।

एक अनुभवी की जांच—अपराध शास्त्र के सुप्रसिद्ध अनुभवी डा० हीली को जांच करने पर मालूम हुआ है कि सुधार-शालाओं में भेजे हुए अपराधियों में से ७० फी सदी अपने भावी जीवन में असफल रहे, जब कि उन युवकों में से जो प्रारम्भिक

अपराधों के कारण इन संस्थाओं में नहीं भेजे गये थे, केवल ३७ फी सदी ही पीछे अपराधी पाये गये। ऐसा होते हुए भी हम इन संस्थाओं की उपयोगिता मान रहे हैं! सोचने की बात है कि उन सैकड़ों युवकों के लिए एक ही प्रकार का, यन्त्र की तरह का बर्ताव कैसे उपयुक्त हो सकता है, जिनमें से प्रायः किन्हीं दो भी व्यक्तियों का स्वभाव और आदतें समान नहीं हैं; सब की आवश्यकताएं और समस्याएं अलग अलग हैं! इसमें सन्देह ही क्या कि ऐसी संस्था में जो व्यक्ति सबसे अधिक अपराध-कुशल होगा, वह औरों के लिये नमूने अर्थात 'मौडल' का काम देगा। जरूरत है कि युवक अपराधियों एवं प्रारम्भिक अपराधियों को इन सुधार-शालाओं (या बिगाड़-शालाओं?) में एकत्रित न कर उनको अलग अलग रखते हुए और उनकी व्यक्तिगत परिस्थिति का विचार करते हुए, सुधारने का प्रयत्न किया जाय।

नये ढंग की आधुनिक रिफार्मेटरी के उदाहरण स्वरूप अमरीका की एल्मिरा रिफार्मेटरी की कुछ ज्ञातव्य बातों का उल्लेख किया जाता है।*

एल्मिरा रिफार्मेटरी—इस संस्था की स्थापना सन् १८७६ ई० में हुई थी। यह दुनियां में बच्चों के सबसे पुराने जेलखानों में एक है। जब से इसकी स्थापना हुई तब से इस में ४०,३५० युवक रखे जा चुके हैं। इन दिनों इसमें १६ से लेकर २५ वर्ष तक

* 'प्रताप' के आधार पर।

की उम्र वाले १३०० से अधिक युवक अपना समय बिता रहे हैं।

इसमें प्रति सप्ताह लगभग २० नए कैदी भर्ती किये जाते हैं। प्रत्येक नए कैदी को एक मास तक प्रारम्भिक नियम के अनुसार रहना पड़ता है। इस एक मास में उससे कई तरह की पूछ-ताछ की जाती है। उसकी कई परीक्षाएं होती हैं। उसे व्याख्यानों में जाना पड़ता है, क़वायद करनी पड़ती हैं और वहां के सारे नियमों से वाक़िफ़ होना पड़ता है। इस रिफ़ार्मेटरी में एक विभाग है जो भिन्न भिन्न प्रकृति के लोगों की प्रकृति से परिचित होता है, जिससे उनके साथ उन्हीं के योग्य व्यवहार किया जाय, तथा उनकी बीमारियों का निदान हो सके। उनकी ठीक ठीक दवा करने के लिए भी एक विभाग है। आज कल इस विभाग में मानसिक बीमारियों के दो विशेषज्ञ, मनोविज्ञान के दो पंडित तथा समाज-शास्त्र के दो विद्वान काम कर रहे हैं। समाज-शास्त्र के विद्वान नए कैदियों से पूछ-ताछ तथा बात-चीत करते हैं, उनके सम्बन्ध में लोगों से पत्र व्यवहार करते हैं, हर तरह की खबरों को इकट्ठा करते हैं तथा सामाजिक इतिहास लिखा करते हैं जो बहुत ही मनोरंजक तथा शिक्षा-प्रद होता है।

एक महीने तक रिफार्मेटरी में रहने के बाद प्रत्येक कैदी श्रेणी विभाग समिति के सामने पेश किया जाता है। इस समिति की बैठक प्रत्येक शुक्रवार को होती है। यह समिति पेश किए गए आदमियों को, जो जिस काम के योग्य होता है उसे उसी काम में

लगा देती है। कुछ व्यापारिक कामों में लगा दिए जाते हैं, कुछ स्कूल में, कुछ शारीरिक शृंगार-कला सम्बन्धी काम में। इसके बाद नए कैदी रिफार्मेटरी के अन्य सभी पुराने कैदियों के साथ आमतौर से रहने लगते हैं। छः महीने तक इस प्रकार रह चुकने पर वे "पैरोल बोर्ड" के सामने लाए जाते हैं। यह बोर्ड इस बात को तय करती है कि वे कितने दिन तक रिफार्मेटरी में कैद रखे जांय। हर एक व्यक्ति इस रिफार्मेटरी में औसतन प्रायः १७ महीने रहता है। रिफार्मेटरी से निकालने पर वह तब तक के लिए "पैरोल" (शर्त) पर स्वतंत्र कर दिया जाता है जब तक उसको सजा की मियाद न बीत जाय। कैद की अवधि ढाई साल से लेकर तीन साल तक होती है।

इस रिफार्मेटरी में सब काम नियम-पूर्वक होते हैं। प्रातःकाल छः बजे बिगुल बजते ही सब को उठ जाना पड़ता है। तब से दस बजे रात तक सभी कामों के लिए बिगुल बजता है। रविवार को छोड़ कर प्रति दिन एक घण्टा सैनिक क़वायद करनी पड़ती है। बुध और शनिवार को सब कैदी सुन्दर सुन्दर कपड़े पहिनते हैं। इस अवसर पर बाहर से दर्शक रिफार्मेटरी को देखने आते हैं। रिफार्मेटरी में शारीरिक शिक्षा का भी कार्य क्रम रहता है—उदाहरणवत् कुश्ती, तैरना, शारीरिक व्यायाम करना, खेलना आदि। प्रति रविवार को कैदी बारह बजे गिरजाघर में जाकर प्रार्थना करते हैं और दोपहर के बाद बाइसकोप देखते हैं। यहां कैदियों की एक दर्शन-समिति भी है, जिसमें अधिक शिक्षित और तीव्र बुद्धि

वाले कैदी भाग लेते हैं। इसकी बैठक प्रति रविवार को बारह बजे के पहले एक घंटे के लिए होती है। कैदियों द्वारा सम्पादित एक साप्ताहिक पत्र भी प्रति शनिवार को प्रकाशित होता है। इसमें तरह तरह की खबरें तथा दिलचस्प विषयों पर लेख होते हैं। इन दिनों इस रिफार्मेटरी में पुन-निर्माण के एक दस वर्षीय कार्य-क्रम के अनुसार काम हो रहा है। स्कूल के लिए एक तिमंजिला नया मकान भी बना है जिसमें ५०० से लेकर ६०० कैदी प्रति दिन पढ़ते हैं। शिक्षकों में प्रायः सभी को जेल के भीतर ही रहना पड़ता है। अस्पताल भी एक नए तिमंजिले मकान में है।

कुछ ही महीने हुए एक ही कतार में ७०४ कोठरियां तैयार की गई हैं। एक बहुत ही सुन्दर सभा-भवन भी बन कर तैयार हो गया है। व्यापार विद्या सिखलाने के लिए पहले से ही कई दूकानें थीं, इधर दो दूकानें और खोली गई हैं।

क्या अभी प्रत्येक राज्य में इस प्रकार की काफी संस्थाएं स्थापित और संचालित होने का समय नहीं आया? कब आयगा?

छटा परिच्छेद

—:o:—

कैद

"संसार के जेलखानों में 'नरक-यातनाएं' देकर कैदियों को सुधारने का प्रयत्न किया जाता है। अपराधियों को सुधारने का यह मार्ग हजारों वर्ष तक आजमाया जा चुका है, पर यह मार्ग अपने उद्देश्य में पूर्ण रूप से असफल रहा है। संसार की अधिकांश जेलों से मुक्त होने वाले अपराधी अधिकतर पक्के चोर, डाकू और हत्यारे होकर निकलते हैं।"

—'कर्मवीर'

कैद का बाहुल्य—सर्व-साधारण कैद की सजा से इतने परिचित हैं, तथा विविध राज्यों में इस दंड का इतना उपयोग किया जाता है कि 'सजा' या 'दंड' शब्द प्रायः कैद का पर्याय-वाची माना जाने लगा है। बहुधा आम आदमी यह कहते सुने जाते हैं कि उसे चार (अथवा कम ज्यादह) महिने की 'सजा' हुई, जब कि उन का अभिप्राय: वास्तव में यह होता है कि उसे इतने समय की 'कैद' हुई। यह कहा जा सकता है कि जैसे

पुरानी शैली के अध्यापक बच्चों को सुधारने के लिये बात बात में छड़ी काम में लाते हैं, आज कल जजों ने अनेक अपराधों के लिए एक राम-बाण नुस्खा जेल समझ रखा है। इस का वे प्रायः प्रयोग करते रहते हैं। हर ज़िले में रोगियों के अस्पताल की व्यवस्था चाहे पर्याप्त न हो, पर इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है कि ज़िला-जेल इतना विशाल अवश्य हो कि उस में उस ज़िले के सब कैदी रह सकें। यदि किसी ज़िले में सैकड़ों विद्यार्थी स्थान या व्यवस्था की कमी के कारण स्कूलों में प्रवेश न कर सकें, तो इस में सरकारें अपना कुछ अपमान नहीं समझतीं, परन्तु ऐसा अवसर तो वे स्वप्न में भी आने देना नहीं चाहती कि कैद की सज़ा पाये हुये किसी व्यक्ति को जेल में जगह न मिल सके। ऐसा होने में, वे अपनी मान-मर्यादा की हानि समझती हैं।

जेल के सम्बन्ध में विशेष विचार करने से पूर्व हवालात के विषय में कुछ आवश्यक बातें जान लेनी चाहिये।

हवालात—बहुत से अभियुक्तों को उन का मुकद्दमा चलने से पूर्व कुछ समय (प्रायः चौबीस घंटे तक) पुलिस की हवालात में रहना पड़ता है। कभी कभी पुलिस किसी अभियुक्त को उस के साथियों की तलाश की इन्तज़ार में अधिक समय भी अपने नियंत्रण में रखती है, अथवा जेल की हवालात में बन्द करा कर उसके विरुद्ध प्रमाण संग्रह करने लगती है, और मेजिस्ट्रेट पुलिस को जितना समय देता है, उस की समाप्ति से पूर्व, पुलिस उस

मोहलत को और बढ़ाने की दरख्वास्त दे देती है। इस प्रकार कुछ अभियुक्तों को हफ्तों पुलिस की हवालात में,* अथवा महीनों जेल की हवालात में रहना पड़ता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि मुकद्दमे में पेशी पर पेशी लगती रहती है, अथवा बहुत लम्बी पेशी लग जाती है और अभियुक्त को महिनों ही नहीं, वर्षों अपनी ज़िन्दगी जेल की हवालात में बितानी पड़ती है। मृत्यु-दंड अर्थात् फांसी पाने वालों को यह सज़ा मिलने तक अथवा अपील करने तक फांसी की कोठरियों में रखा जाता है। अस्तु, हवालात एक प्रकार से सादी कैद सी ही है; अब हम कैद की सज़ा के बारे में विचार करते हैं।

सादी और सख्त कैद—कैद के मुख्य दो भेद होते हैं, सादी और सख्त। सादी कैद वालों को कुछ काम करना नहीं होता। बहुधा शिक्षित आदमियों को पढ़ने के लिये पुस्तकें या अखबार आदि भी बहुत कम दिये जाते हैं। इस लिये ये व्यर्थ की बातों में अपनी दिन-कटी किया करते हैं, और कुछ समय के जेल-जीवन से इन्हें सुस्ती, आरामतलबी, और बेकार पड़े रहने के ऐसे अभ्यास पड़ जाते हैं, जो इन्हें पीछे बहुत दुख देते हैं, और बहुतों को और अधिक अपराधी बनाने में सहायक होते हैं।

---

* जो अभियुक्त पुलिस की हवालात में रहते हैं, उन के भेद लेने के लिए या उनसे अपराध स्वीकार कराने के वास्ते, पुलिस उन पर जो अत्याचार करती है, वे बहुधा भयंकर और रोमांचकारी होते हैं।

सख्त कैद वालों को जो काम दिया जाता है, उस में उनकी शारीरिक या मानसिक क्षमता तथा रुचि आदि की अपेक्षा अनुशासन सम्बन्धी नियमों का अधिक विचार किया जाता है। कैदियों की योग्यता का विकास करना तो दूर रहा, जो योग्यता होती है, उसका भी उपयोग नहीं किया जाता। 'गोल सुराखों में चौकोर कीलों' की भांति उन के समय और शक्ति का भयंकर दुरुपयोग होता रहता है; इससे उन के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ को बड़ी घातक हानि पहुंचती है।

जेल का जीवन—जेलों में साधारण कैदियों से (अधिकांश कैदी साधारण ही होते हैं, विशेष की संख्या तो बहुत कम रहती है) पशुओं का सा व्यवहार होता है। उन्हें खाने को घटिया से घटिया पदार्थ दिये जाते हैं। उनके वास्ते जो अन्न पीसा जाता है, उसमें मिट्टी कङ्कर मिली रहती है। जेल के बगीचे में पैदा होने वाली हर एक हरी चीज, यहां तक कि उसके छिलके और पत्ते भी उन की शाक भाजी हैं। यदि वे रोगी हों तो डाक्टर साहब की जेब में पड़ी हुई पुड़िया, अथवा उन के 'अस्पताल' कहे जाने वाले कमरे में रखी हुई बोतलों की नाम मात्र की औषधियां उन के लिये राम-बाण हैं। उन की शिकायतें सुनने के लिये एक खास दिन मुकर्रर है, मानों अन्य दिन उन्हें शिकायतें होंगी ही नहीं। फिर उस दिन भी तो सुपरिंटेन्डेन्ट के सामने उनकी वे ही शिकायतें पेश हो सकती हैं, जिनके लिये जेलर साहब ने अनुमति

देने की कृपा की हो। सर्दी के दिनों में उन्हें ओढ़ने बिछाने को पर्याप्त वस्त्र नहीं मिलते। इस से उन्हें जुकाम, खांसी, नमोनिया आदि की बीमारी हो जाती है। गर्मियों में उन्हें ओढ़ने को चादर नहीं मिलती, इससे रात्रि में मच्छर उन्हें शान्ति से सोने नहीं देते, और वे सिर-दर्द और मेलेरिया आदि के शिकार हो जाते हैं। रात्रि में शान्ति-भंग करने का एक दूसरा कार्य भी वहां जारी रहता है; वह है, हर आध-आध घंटे में पहरेदारों का बैरक में चिल्लाना और कैदियों को गिनना। इससे कैदी अपनी रही सही शान्ति से भी वंचित हो जाते हैं। फिर, अनुशासन के नाम पर उन्हें सवेरे निर्धारित समय पर अवश्य उठ जाना चाहिये, चाहे रात्रि में उन्हें पर्याप्त निद्रा न भी आयी हो। रोज रोज की निद्रा की कमी शरीर और मस्तिष्क को कैसा विकार-युक्त बना देती है, इसे भुक्त-भोगी ही जानते हैं।

कैदियों को शौच जाने के लिये भी स्वतंत्रता नहीं, उसका समय निर्धारित है, घंटा बजने पर उन्हें तैयार होना ही चाहिये। उन्हें गाली-गलौच देना या मारना पीटना तो ऐसी साधारण बातें हैं, कि कुछ दिन बाद उन में से बहुत-सों को इनका अभ्यास ही हो जाता है। कहने को तो उन्हें पढ़ाने लिखाने की भी व्यवस्था होती है, परन्तु यह तो मोटी अक्ल की बात है, कि कौन अधिकारी यह चाहेगा कि कैदी में कुछ सोचने समझने की शक्ति हो और वह जेल के जीवन की खरी आलोचना करने का साहस करे। कुछ अधिकारी कभी कभी अपने व्यवहार की श्रेष्ठता सिद्ध

करने के लिये कैदियों का वज़न बढ़ने का प्रमाण दिया करते हैं, परन्तु यदि लोगों की दशा ऐसी खराब है कि उन्हें अपने घर रोज़ दो वख्त पेट भर खाने को नहीं मिलता और जेल में जैसे-तैसे उनको उदर-पूर्ति होने से उन का शरीर कुछ पुष्ट हो जाता है, तो इस से देश की हीनता का परिचय अवश्य मिलता है, जेल जीवन की श्रेष्टता का समर्थन नहीं हो सकता।

जेल का वातावरण—जेलर साहब प्रायः नीति और धर्म के उपदेशक की तरह न रह कर एक शासक और प्रबन्धक के के रूप में रहते हैं, उन्हें हर घड़ी यह ख्याल रहता है कि ऐसा न हो कि कहीं कैदियों से नर्मी का बर्ताव करने से जेल के अनुशासन या 'डिसिपलिन' में कुछ अन्तर आजाय। जेल में काम करने वाले जमादार और पहरेदार ('वार्डर') आदि कुछ खास विश्वास-पात्र कैदी होते हैं जो जेलर तथा अन्य अधिकारियों को खुश रखने की कला में प्रवीण होते हैं। जो कैदी इन लोगों की हां-हज़ूरी और खुशामद आदि करता है, जो इन के इशारों के मुताबिक चलने में आना-कानी नहीं करता, जो अपने विचार स्वातंत्र्य को सर्वथा छोड़ देता है, जिस में आत्म-सम्मान की भावना नहीं रहती, उसी कैदी की प्रायः मज़े से गुज़रती है। इस के विपरीत, जो सज्जन वहां अपने स्वाभिमान आदि के कारण इस वातावरण के अनुकूल बनने में सफल नहीं होता, वह विविध प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक कष्ट पाता है। यह बात

बहुतों ने अनुभव की है, और सर्व-साधारण ने सुनी है। कैदी यह तो जानते ही हैं कि वे जेल का रंग-ढंग नहीं बदल सकते। इस लिये वे प्राय: इस बात का भरपूर प्रयत्न करते हैं कि वे अपने आप को उस के दूषित वायु-मंडल के अनुकूल बना लें।

एकांगी और पातकी जीवन—साधारण नागरिक जीवन में मनुष्य अपने भाई बन्धुओं के अतिरिक्त स्त्री जाति के भी संसर्ग में आता है। घर में मां बहिन और पत्नि मिलती है तो बाहर और भी महिलाओं से समय समय पर मिलना जुलना होता है। समय समय पर मनोहर मूर्ति, निर्दोष बाल बच्चों से जी बहलता है। इस से उसे नवीन, ताज़े, तथा विभिन्न प्रकार के मानसिक-स्वास्थ-वर्द्धक अनुभव होते हैं। परन्तु, जेल में उसे प्राय: अपनी ही उम्र के आदमियों की संगति में रहना पड़ता है, और वह भी अपराधियों की में। इस से उस के जीवन के एकांगीपन, निरसता तथा यान्त्रिकता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। उसे दिन रात एक खास नक्शे के मुताबिक बने हुए मकानों में रहना होता है, एक निर्धारित चेत्र से बाहर आने जाने की उसे अनुमति नहीं होती। हंसने खेलने तथा अपने विविध मनोभावों को प्रकट करने का उसे कोई अवसर ही नहीं मिलता। जमादारों और जेलर आदि की हर प्रकार की सख्तियां उसे चुप-चाप एक पशु की भांति सहन करते रहना चाहिये। जेल का व्यवहार अधिकांश में शुष्क, सद्भाव-हीन ही नहीं, पतन-

कारी होता है। उस में से जो व्यक्ति शारीरिक, मानसिक या आत्मिक दृष्टि से कुछ उन्नत होकर निकले तो यह उस व्यक्ति की विशेषता समझी जानी चाहिये; इसका यश जेल या उसके अधिकारियों को कदापि नहीं। वे तो मानों पूर्ण रूप से चेतन मनुष्य को जड़, नर्म को कठोर, धर्म-भीरु को निर्लज्ज और भोले-भालों को अपराधी, तथा साधारण अपराधियों को घोर कुकर्मी बनाने का बीड़ा उठाये होते हैं।

जेल समाज के रक्षक नहीं—रोज-मर्रा के अनुभव की बात है कि जेलों में कुछ समय रहने के बाद आदमी, पहले की अपेक्षा समाज के लिये अधिक भय-प्रद हो जाते हैं। यह कहा जाता है कि अपराधियों को समाज से पृथक् जेल में रखकर, समाज की, उनके द्वारा होने वाली हानि से, तथा उनके घातक प्रभाव से रक्षा की जाती है। यदि थोड़ी देर के लिये इसे सत्य ही मान लिया जाय तो सोचना तो यह है कि यह रक्षा कितने कम समय के लिये होती है, और पीछे इसका कितना भारी मूल्य देना पड़ता है। यदि एक अपराधी के साल दो साल जेल में रहने की दशा में समाज की उस से रक्षा हुई, और पीछे वह और अधिक अपराधी और समाज-द्रोही बन कर कई वर्ष का जीवन समाज में व्यतीत करने के लिये आ जाता है तो क्या समाज को अपनी पूर्व रक्षा अब बहुत मंहगी न पड़ेगी! मनुष्यों के मनुष्यत्व का ह्रास करने और उनका नैतिक (तथा कुछ

दशाओं में शारीरिक) पतन करने वाली प्रायः सब सहायक बातें जेलों में विद्यमान होती हैं। आधुनिक जेलखानों की, उस अस्पताल सेतुलना की जा सकती है, जो डबल नमोनिये के मरीज़ का इलाज करने के लिये उसे बर्फ में स्नान कराये और फिर उसे ऐसे स्थान में बैठाये जहां ठंडी हवा के झोके खूब आते हों, तथा सोने के जगह में भी खूब सर्दी हो, और ओढ़ने बिछाने के कपड़े भी बहुत कम हों।

कैद से समाज-विद्रोह बढ़ता है—कैदी औरों से पृथक् रहने के कारण प्रायः उदास सा रहता है, उसके मन में स्फूर्ति या चेतना का भाव नहीं रहता। वह अपने आपको एक पींजरे में बन्द पक्षी की तरह समझता है—जेल की इमारत पींजरे से मिलती-जुलती भी है। वहां का तमाम वातावरण बड़ा विचित्र, निरस और निराशा-जनक होता है। कैदी प्रायः अपने आपको निर्दोष मानता, और सामाजिक अन्याय का शिकार समझता है। अन्य कैदियों की कुसंगति में उसे नये अपराध करने की शिक्षा मिल ही जाती है। बस, उस में समाज से, धनवानों और सत्ता-धारियों से, बदला लेने की भावना जागृत होकर क्रमशः बढ़ती रहती है। इस के अतिरिक्त, बहुधा ऐसा भी होता है कि एक आदमी के कैदी बन जाने से उसके बालकों और स्त्री आदि को बहुत आर्थिक तथा अन्य संकट सहना पड़ता है, उन में भी समाज-विद्रोह के भाव उत्पन्न हो जाते हैं।

जेलों में व्यभिचार—पैसे के बल से कैदियों को, और अधिकार-बल से अधिकारियों को वर्जित पदार्थ भी मिलते ही रहते हैं। और तो और, जेलों में व्यभिचार भी यथेष्ट मात्रा में होता है। अप्राकृतिक दोष भी कम नहीं होते। आरम्भ में कुछ आदमी सख्ती से बचने के लिये, और कुछ खान-पान बीड़ी-सिग्रेट आदि के प्रलोभन से दुष्कृत्यों के शिकार होते हैं, और पीछे तो उनकी आदत ही पड़ जाती है। खेद का विषय है कि पतन की यह चरम सीमा भी जेलों में विद्यमान रहती है, और मानों आंख मीच कर सहन की जाती है।

रोगी बनने के प्रयत्न—साधारण मनुष्य भी बहुधा काम या परिश्रम से जी चुराया करते है, फिर जेलों के दूषित वातावरण में, वहां के अ-नैतिक जीवन की परिस्थिति में, रहने वाले कैदी यदि मेहनत से बचने का प्रयत्न करें तो क्या आश्चर्य है! मेहनत से बचने का वहां सरल मार्ग यही है कि किसी प्रकार रोगी बन जांय। कुछ आदमी दिन रात बीमार पड़ जाने की इच्छा करते हैं, और बीमारी इनका निमंत्रण स्वीकार नहीं करती। इस लिये इन्हें जबरदस्ती उसे खींच लाना होता है। ये तरह-तरह की चालबाजियां करके कमजोर हो जाते हैं, खून के दस्त करने लगते हैं, बुखार चढ़ा लेते हैं। जेल का डाक्टर इन्हें स्वस्थ होने की विधि बतलाता है तो ये उस के विपरीत चलते हैं; कुपथ्य करते हैं। इस प्रकार जब डाक्टर को

रोगी का सहयोग प्राप्त न हो तो रोग का निवारण कैसे हो सकता है।

आत्म हत्याएं—कुछ कैदी तो जेल में होने वाले व्यवहार से निराश ही हो जाते हैं, उन्हें जीवन का मोह नहीं रहता, वे मृत्यु का स्वागत करने को उत्सुक रहते हैं, और उसके आने में देरी लगते देखकर वे स्वयं अपने प्राणों का अन्त करने का प्रयत्न करते हैं। कैदियों की इस मनोवृत्ति से अधिकारी परिचित होते हैं, और वे इस विषय में यथेष्ट सतर्क रहते हैं। कैदियों के पास लोहे, पत्थर या रस्सी आदि का टुकड़ा नहीं रहने दिया जाता, प्रति दिन सायंकाल के समय सब की तलाशी ली जाती है, रात को 'वार्डर' लालटेन लेकर चौकसी करता है। फिर भी कभी कभी आत्म-हत्याएं होती ही रहती हैं। कैदी जानते हैं कि यदि पहरे वाला किसी को ऐसा प्रयत्न करते देख लेगा तो उन पर और भी बुरी बीतेगी, इस लिये वे किसी प्रकार उस की आंख बचा कर अपनी कार्रवाई करते हैं, और कोई कोई अपने दुस्साहस में सफल भी हो जाते हैं। सवेरे जब उन की गिनती होती हैं, तो एक कम हो जाता है; जीवित जागृत प्राणी की जगह लाश मात्र रह जाती है।

राजनैतिक कैदी—यद्यपि राजनैतिक कैदी प्रायः निस्स्वार्थ, देश-हितैषी और परोपकारी होते हैं, अनेक जेलों में उन के साथ भी बेईमान चोर डाकू और हत्यारे आदि की तरह ही बर्ताव किया

जाता है। उनका घोर अपमान किया जाता है, कभी कभी तो उन्हें दुर्गंध-युक्त स्थानों में रहने को बाध्य किया जाता है, अथवा उन्हें और तकलीफें दी जाती है। इस से जेलों में कई बार सुदीर्घ भूख हड़ताल होती है। समय समय पर कुछ माई के लाल सदैव के लिये इन विभत्स और नारकीय लीलाओं से छुटकारा पा जाते हैं।

भारतवर्ष में सरकार जिन थोड़े से 'प्रतिष्ठित' कैदियों को 'ए' या 'बी' श्रेणी में रखती है, और भोजनादि की कुछ विशेष सहूलियतें देती है, इन में से भी अधिकतर का स्वास्थ खराब ही हो जाता है। इस का मुख्य कारण यह है कि उन्हें भी तो बंधन के ही वातावरण में रहना पड़ता है, प्रत्येक बात व्यवहार से उन्हें अपनी पराधीनता या दासता का अनुभव कराया जाता है। जेब की तलाशी देना, उन नम्बरदारों की अधीनता या पहरे में रहना, जो प्रायः चोर और डाकुओं में से बनाये जाते हैं, बहुधा अधिकतर समय ताले में बन्द रहना, जेल के सिद्धान्त-हीन रिवाज की पाबन्दी करना उन के लिये आवश्यक है। और, यह उन की मानसिक पीड़ा का पर्याप्त कारण है। फिर, यद्यपि उन्हें भोजन की सामग्री निर्धारित मात्रा में मिलती है, परन्तु वह सामग्री होती तो जेल-अधिकारियों या उन के कृपा-पात्र ठेकेदार के द्वारा ही खरीदी हुई जिस की एक विशेषता यह रहती है कि दाम बढ़िया और चीज घटिया। प्रतिदिन घटिया अन्न, घी आदि खाकर वे कब तक स्वस्थ रह सकते हैं?

जेल जीवन का, अधिकारियों पर बुरा प्रभाव—जेल के जीवन का प्रभाव उसके अधिकारियों पर भी अच्छा नहीं पड़ता। अधिकारियों का मुख्य विचारणीय विषय यह रहता है कि किस प्रकार कैदियों को जेल रूपी पींजरे में सरलता-पूर्वक बन्द रखते हुए स्वयं आराम पावें। वे जेलों के अनुशासन सम्बन्धी नियम बहुत कठोर और दया-शून्य बनाते रहते हैं। वे बहुधा चिड़चिड़े क्रोधी तथा तर्क-शून्य और अविवेकी हो जाते हैं। इससे कैदियों में प्रति-क्रिया और बदले का भाव पैदा होना स्वाभाविक है। इस पर नियम और कठोर बनाये जाते हैं, फलतः कैदी और अधिक उत्तेजित और अनुशासन-हीन हो जाते हैं। इस प्रकार कैदी और अधिकारियों के बीच में क्रिया और प्रति-क्रिया की भावना बढ़ती है और दोनों ही एक दूसरे के पतन का मार्ग अधिकाधिक प्रशस्त करते रहते हैं। सुपरिंटेन्डेन्ट, जेलर, दरोगा, हेडक्लर्क, गल्ला-गोदाम का मुन्शी, मिलाई वाला मुन्शी, डाक्टर, जमादार आदि विविध कर्मचारियों ने अन्यान्य बातों में अपनी अपनी आय बढ़ाने के कैसे विविध और अनुचित उपाय निकाल रखे हैं, इस बात को जेल परिवार के अनेक सदस्य जानते हैं, और जानते हुए भी कुशलता-पूर्वक छुपाते हैं। कहावत ठीक ही है 'चोर चोर मौसेरे भाई।' इन लोगों का भन्डा-फोड़ तब ही होता है, जब इस मंडली में से एकाध का स्वार्थ सिद्ध नहीं होता अथवा कोई

नया पदाधिकारी उस वातावरण से यथेष्ठ प्रभावित न होने के कारण, स्वार्थ सिद्ध नहीं करना चाहता।

जनता पर दुष्प्रभाव—यदि जेलों का जीवन केवल कैदियों, तथा जेल-अधिकारियों के लिये अनिष्टकारी होता, और इससे सर्व साधारण जनता का कुछ कल्याण होता तो भी गनीमत थी। यह संतोष कर लिया जाता कि कैदियों और जेल अधिकारियों पर होने वाले दुष्प्रभाव के प्रतिफल-स्वरूप जनता का कुछ लाभ हो जाता है। परन्तु जेल—प्रथा तो लोगों के हृदयों में से क्षमा, सहानुभूति, दया आदि कम करती रहती है। आदमी एक दूसरे के दंड पाने में तथा कष्ट भोगने में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। समाज में सहयोग के भाव की न्यूनता होती है। मुट्ठी भर धनी और 'प्रतिष्ठित' आदमी बड़ी बड़ी चालाकियों से धनोपार्जन करते हुए उन निर्धन और असहाय व्यक्तियों के दंड पाने से संतुष्ट और सुखी मालूम होते हैं जो बेचारे भूखे मरते या सर्दी गर्मी में तड़फते हुए दो मुट्ठी दानों के लिये चोरी करने या झूठ बोलने को वाध्य होते हैं। ये बेचारे 'सभ्य' समाज की दृष्टि में पतित और घृणित समझे जाते हैं। ऐसे भावों के रक्षण करने वाले समाज का परमात्मा ही बेली है।

जेल की उपयोगिता की कसौटी; मुक्त होने वाले कैदियों का जीवन—कोई अस्पताल सुयोग्य कर्मचारियों के हाथ में है या अयोग्य व्यक्तियों के, इस विषय की जांच करने

का सरल और सुबोध उपाय यह देखना है कि वहां किसी रोगी को कितना जल्दी ऐसा स्वस्थ करके अपने घर जाने की छुट्टी दे दी जाती है, कि फिर उसे सहसा उस अस्पताल की शरण में आने की आवश्यकता न रहे। यदि किसी अस्पताल मे—चाहे वहां टीप टाप और आडम्बर कितना ही क्यों न हो—एक रोगी, डाक्टर की इच्छानुसार समय व्यतीत करने पर भला चंगा नहीं होता, अथवा उसे केवल अस्पताल की हवा और भोजन ही अनुकूल पड़ता है, वहां से बाहर आते ही वह फिर बीमारी के चिन्ह सूचित करता है, और उसे बार बार अस्पताल में लाना लाना पड़ता है, ता अस्पताल के प्रबन्धकों या संचालकों की अयोग्यता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण होगा।

इसी प्रकार हम जेल के विषय में विचार करें। जेल, अपराधियों को केवल 'अच्छे कैदी' बनाते हैं। वहां वे भय आदि के कारण कुछ नियमित व्यवहार करते हैं, परन्तु जब वे कैद की सजा पूरी करके नागरिक जीवन में प्रवेश करते हैं तो मालूम हो जाता है कि वे इस जीवन के योग्य नहीं हैं; जेल में उन्हें 'अच्छा नागरिक' बनना नहीं सिखाया गया। उनके चरित्र और स्वभाव आदि में कुछ सुधार नहीं हुआ, जो परिवर्तन हुआ है, वह गलत दिशा में हुआ हैं। जेल में वे एक खास ढांचे में ढल गये थे, उस से उन का अब इस नयी दुनिया में निर्वाह होना कठिन है, और हां, अब एक नयी समस्या और भी तो उपस्थित हो जाती है, अब कोई उन का विश्वास नहीं करता। कैद से छूटा हुआ आदमी

नौकरी आदि करने जाता है तो सब उसे 'अपराधी' या 'कैद की सजा पाया हुआ' कह कर बुरी तरह दुत्कारते हैं। वह बेचारा सर्व साधारण के लिये अविश्वास और घृणा का पात्र बन कर, जहां तहां मुह छिपाना चाहता है, पर इससे उसके (तथा उस के परिवार वालों के) पापी पेट का तो काम नहीं चल सकता।

इस प्रकार स्थान स्थान पर निराशा और चिन्ता का भूत उस के सिर पर सवार रहता है। जेल में रहते हुए, उसमें समाज के प्रति विद्रोह भाव उत्पन्न हो गया था, उसने अपने साथियों से कुछ नये नये हथकंडे भी सीख लिये थे। वह अब अपने दुस्साहस आदि का खूब प्रयोग करता है। जब तक पुलिस अधिकारियों तथा जनता की आखों में धूल झोंक सकता है, झोंकता रहता है। दैव योग से यदि फिर गिरफ्तारी का नम्बर आ जाय तो इस से उसका मन मलिन नहीं होता; वह जानता है कि जेल की दुनिया जानी पहचानी है, इस बार वह अन्य कैदियों में साधारण या नवसिखये का जीवन नहीं बिताएगा, वरन् वह औरों का उस्ताद बन कर रहेगा और उनके सन्मुख खूब डींगे मारने वाला, अभिमानी और साहसी होगा।

इन बातों का विस्तार करना व्यर्थ है। विवेकशील पाठक उपर्युक्त रेखाचित्र के रंग स्वयं अपनी अपनी कल्पना से भर सकते हैं। हम तो समझते हैं कि बिना रंगसाजी के ही, ऊपर कही बातें इस बात का यथेष्ठ प्रमाण हैं कि जेलों की वर्तमान पद्धति अनुपयोगी ही नहीं, अनिष्टकर है।

आर्थिक दृष्टि से विचार—जेलों में सादी कैद वालों से तो कुछ आय होती ही नहीं। सख्त कैद वालों के श्रम—चक्की पीसने कपड़ा दरी कुर्सी आदि बुनने, या बाग लगाने आदि से जो आय होती है, वह बहुत साधारण सी होती है। और, दोनों प्रकार के कैदियों पर जो खर्च होता है वह बहुत अधिक होता है, यद्यपि साधारण कैदियों के भोजन वस्त्र आदि में बहुत कंजूसी बर्ती जाती है। इस प्रकार कैदियों की मद के खर्च का खासा भार देश के निरपराध नागरिकों पर पड़ता है। कैदियों पर जितना रुपया, आमदनी की अपेक्षा अधिक खर्च होता है, वह सर्व साधारण से प्राप्त टैक्सों से लिया जाता है। खर्च की अधिकता का कारण जेलर, सुपरिन्टेन्डेन्ट आदि कर्मचारियों का वेतन है; और आमदनी कम होने का कारण यह है कि कैदी अपना काम बहुधा अधिकारियों के भय से करते हैं, उन्हें ऐसे कार्य करने के लिये बाध्य किया जाता है, जिनका उन को बिल्कुल अभ्यास नहीं होता। ऐसे कार्य में कैदियों के अंग, हाथ पांव यंत्र की भांति चलते है, उनका मन उसमें नहीं होता। वे प्रायः केवल इस बात का ध्यान रखते हैं कि अधिकारियों की दृष्टि में, उन के काम की गिनती हो जाय, वैसे वह चाहे जितना रद्दी हो। ऐसी भावना से जो काम किया जाता है, वह आर्थिक दृष्टि से लाभदायक हो ही कैसे सकता है? उस में कच्चा सामान बहुत अधिक खराब जाना तथा उसके बाजार में अच्छे दाम न उठना स्वाभाविक ही है।

कैदियों की कार्य पद्धति से नैतिक हानि—कैदियों की वर्तमान कार्य पद्धति आर्थिक दृष्टि से हानिकर है, परन्तु इस से भी अधिक हानि नैतिक दृष्टि से होती है। कैदियों में स्वावलम्बन का भाव नहीं रहने पाता; उनकी योग्यता और शक्ति का विकास होना तो दूर रहा, उनका और ह्रास होता है; वे अपनी प्रत्येक आवश्यकता के लिये अधिकारियों की कृपा के आश्रित रहते हैं, वे जो कुछ खाने पहनने को दें, वही स्वीकार करना होता है। उनकी इच्छा या रुचि का प्रश्न ही नहीं रहता, उन्हें इन का दमन करना पड़ता है।

कैद की अवधि निश्चित होना, इस पद्धति को तर्क-शून्य सिद्ध करता है—जेलों का उद्देश्य अपराधियों का सुधार करना है, यह कथन तो इसी बात से कट जाता है कि प्रत्येक कैदी को निर्धारित अवधि तक जेल में रहने के लिये वाध्य किया जाता है। न्यायाधीश एक बारगी तय कर देते हैं कि इस अपराधी को डेढ साल, इसे दस महिने, और उसे ढाई महिने जेल में रहना ही होगा; चाहे वे इतने समय में बिल्कुल ही न सुधरें (और भी बिगड़ जांय), अथवा उनमें से कोई प्रथम दिन ही ऐसा प्रतीत हो जाय कि उस की अपराध करने की मनोवृत्ति बिल्कुल नहीं है, केवल कानूनी दाव-पेंच के कारण वह अपराधी ठहरा दिया गया है। कोई विचारवान डाक्टर इस बात का कभी आग्रह नहीं करता कि रोगी को अमुक अवधि तक अस्पताल में रहना ही

होगा, चाहे वह इस से पूर्व ही पूर्ण स्वस्थ क्यों न हो जाय। परन्तु अपराधियों को कैद करके रखने में ऐसे विचार को सर्वथा तिलांजलि दे दी जाती है। आह! वर्तमान जेल-प्रणाली कैसी तर्क-शून्य है, इस में कितनी अविवेकता और जड़ता है!

सातवां परिच्छेद

—:o:—

नज़रबन्दी, कालापानी और देश-निर्वासन

"काले पानी की सज़ा से तो फांसी ही अच्छी। ज़िन्दगी भर घुलने से तो थोड़ी देर का कष्ट, चाहे वह कितना ही भयानक क्यों न हो, अच्छा समझा जाना चाहिये।"

नज़रबन्दी—पिछले परिच्छेद में क़ैद की सज़ा का विचार हो चुका है। कैद वह ही व्यक्ति किया जाता है जिस पर मुकद्दमा चल चुकता है, और जो न्यायालय से दोषी प्रमाणित हो चुकता है। परन्तु बहुत से राज्यों में ऐसे भी अनेक व्यक्ति होते हैं, जिन पर कोई अभियोग नहीं चलाया जाता, जिन्हें अपनी सफाई देने का अवसर नहीं मिलता, जो अधिकारियों के सन्देह के कारण ही अपनी स्वतंत्रता से वंचित कर दिये जाते हैं और किसी खास स्थान में, और वहां भी बहुत बन्धनों के साथ, रहने को वाध्य किये जाते हैं।

नजरबन्दों की दशा—नजरबन्दों को यह मालूम नहं होता कि उन्हें किस अपराध के लिये दंड दिया जा रहा है उनके भोजनादि की व्यवस्था यथेष्ठ सुखकर नहीं होती। और उन के लिये इस से भी बड़ा कष्ट तो यह होता है कि वह अपं भक्ति-भाजन स्वदेश की सेवा करने से वंचित रहते हैं। उन्हें उस के सुख दुख का यथेष्ठ समाचार नहीं मिलता। वे अपने मान सिक और शारिरिक रोगों में अपने परिवार और मित्रों कं सहानुभूति और सहायता भी नहीं पा सकते।

राज्य के लिये दुष्परिणाम—कभी कभी माता पिता उन बच्चों को पीटा करते हैं जो उनकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करते हैं परन्तु अबोध बालक यह बात नहीं समझते कि उनका 'अपराध क्या है। इन माता पिताओं के कार्य का कोई समझदार आदमं समर्थन नहीं कर सकता। वे अनुभव-शून्य हैं। अब उन राज्यं को क्या कहा जाय जो सभ्य और बुद्धिमान होने का तो दाव करते हैं, परन्तु अपने प्रौढ़ आयु के समझदार और शिक्षि व्यक्तियों तक को, बिना उन का अपराध बतलाए, दंडित करते हैं

नज़रबन्द व्यक्ति तो अपने आपको निर्दोष मानते ही हैं अन्य बहुत से नागरिक भी प्रत्यक्ष प्रमाण अर्थात् अदालतं कार्रवाई के अभाव में उन्हें निरपराध समझते हैं। ज्यों ज्यं किसी राज्य में नजरबन्दों की संख्या बढ़ती है, साधारण नाग रिकों की यह धारणा बढ़ती जाती है, कि राज्य अब निरपराध

को दंड देता है, वहां से न्याय उठता जाता है। कुछ नागरिक तो यह भी सोचने, और कभी कभी कहने तथा गोल-मोल शब्दों में लिखने भी लगते हैं कि राज्य के पास इन लोगों पर मुकद्दमा चलाने के लिये पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं, या उस में इतना साहस नहीं है जो इन पर मुकद्दमा चला सके, राज्य इतना निर्बल है कि इन लोगों के स्वतंत्र जीवन या व्यवहार को सहन नहीं कर सकता। ये सब बातें राज्य के लिये अहितकर हैं। राज्य का प्रबल आधार नागरिकों का संतोष होता है। वह इतना दृढ़ होना चाहिये कि मुट्ठी भर आदमी उसे हिला डुला न सकें। उस का शासन ऐसे उदार सिद्धान्तों पर, और, प्रजाके बहुमतानुकूल होना चाहिये कि नजरबन्दी का अवसर ही न आये। परन्तु खेद है कि कितने ही राज्य इस ओर ध्यान न देकर मानों ऊपरी लीपापोती करते हैं। कल्पना करो कि एक नगर में, रोग के कीटाणुओं को दूर न कर, वैद्य लोग किसी एक-आध रोगी को बस्ती से दूर कर देते हैं तो क्या केवल इस से अभीष्ट सिद्धि होगी! परन्तु संसार के कितने ही राज्य बहुत बड़े पैमाने पर ऐसे प्रयोग करते आ रहे हैं, और अब बीसवीं शताब्दी के इस जागृति-कालमें भी कर रहे हैं।

नजरबन्दी की व्यर्थता—अपने आप को निर्दोष समझने और कहने वाले, तथा न्यायालय से भी अपराधी न ठहराये जाने के कारण सर्वसाधारण की दृष्टि में भी निरपराध माने जाने

वाले, व्यक्तियों को नजरबन्द करके, यह आशा करना कि वे 'सन्मार्ग' पर आ जांयगे और अपराध करना छोड़ देंगे, बालू से तेल निकालने के समान है। नजरबन्दी के दंड से, राज्य अपने आपको, अपने अनेक बहु-मूल्य रत्नों के उपयोग से वंचित कर लेता है, वह उनकी चमक तथा प्रतिभा बढ़ने में वाधक हो जाता है, और साथ ही अन्य नागरिकों की सहानुभूति से क्रमशः वंचित होता है, उन्हें अपनी निर्बलता का परिचय देता है, और कुछ अंश में निर्बल होता भी जाता है। संसार के लिये क्या ही अच्छा हो, यदि विविध राज्य अपने नजरबन्द किये जाने वाले व्यक्तियों की योग्यता और विचार-शक्ति आदि से यथा सम्भव लाभ उठाने की चेष्टा किया करें। अस्तु, नजरबन्दी के दंड की व्यर्थता स्पष्ट है।

कालापानी—यद्यपि बहुत से देशों से काले पानी की सजा उठ गयी तथा उठती जा रही है, तथापि वह पूर्ण रूप से नहीं उठी है; और कुछ राज्यों के अनेक व्यक्ति इस समय इस सजा को भुगत रहे हैं। अतः इस विषय में कुछ विचार किया जाना आवश्यक है। कालापानी लम्बी कैद का ही एक रूपान्तर है। जब अपराध बहुत भारी समझा जाता है, परन्तु साथ ही इतना भारी भी नहीं कि मृत्यु-दंड दिया जाना उचित माना जाय, उस दशा में कहीं कहीं कालेपानी का दंड निर्धारित किया जाता है।

कैद से, एक विशेष भेद—कैद और कालेपानी में एक विशेष भेद है। कैदियों को जिन लोगों से काम पड़ता है, जिनकी संगति में रहना होता है, उन की चाल-ढाल, भाषा व्यवहार, रहन-सहन आदि से वे थोड़े बहुत परिचित होते हैं। परन्तु कालेपानी में सब कुछ इसके विपरीत होता है। वहां दूसरी ही बोल-चाल, दूसरा ही चलन और रहन-सहन, सब कुछ दूसरा ही दूसरा; आदमी अधिकांश अपरिचित। वहां भेजे जाने वाले को बात बात में यही अनुभव होता है कि मैं मातृ-भूमि की गोद से दूर, एकान्त में पड़ा हूँ, यहां मेरा कोई नहीं। वहां के मकान और हवा पानी में विदेशीपन की सी गन्ध आती है, वहां के प्राकृतिक दृश्य, सूर्य चांद तारों में भी कुछ अपरिचित-पन का आभास मिलता है।

कालेपानी का दंड भुगतने वाले के लिये उस का स्वास्थ बिगाड़ने के वे सब साधन विद्यमान होते हैं, जिनकी सहज कल्पना हुआ करती है। उस का खान पान तो जैसा होता है, होता ही है, बहुधा उसे अच्छे हवा-पानी के स्थान में रहना भी नहीं मिलता। कालेपानी के लिये चुने वाली जगहें प्रायः होती ही ऐसी है, जिन का जल वायु अच्छा न हो, जहां बीमारियां ही नहीं, मृत्यु संख्या भी प्रायः अधिक होती हो। कुछ आदमी विविध शिकायतों के प्रतिवाद-स्वरूप भूख-हड़ताल भी करते हैं। इससे वहां की स्थिति का कुछ अनुमान हो सकता है।

नैतिक भोजन का अभाव—कालेपानी भेजे जाने वाले अभागों के नैतिक भोजन की तो अत्यन्त ही दुर्दशा होती है। भले आदमियों का, ऊंचे विचार वालों का, सभ्य और शिक्षित आदमियों का, वहां काम ही क्या है! वहां तो एक से एक अधिक घातक कार्य करने वाला डाकू, हत्यारा, या षड़यंत्र रचने वाला होता है। इन में जब कभी कोई शिक्षित और सभ्य पुरुष संयोग से, राजनैतिक अपराध में चला भी जाता है, तो उस बेचारे को वहां अपना समय काटना दूभर प्रतीत होता है। उस के लिये अपने जीवन की एक एक घड़ी पहाड़ सी मालूम होती है। जिस प्रकार नमक की खान में पड़ने वाली किसी मीठी वस्तु की गति होती है, वही क्रमशः इस नवागन्तुक की होती है। उस का पतन आरम्भ हो जाता है, वह चहुं ओर के दूषित वायु मंडल का चिर काल तक सामना नहीं कर सकता, कुछ दशाओं में अपनी इच्छा से, और कुछ दशाओं में अपनी इच्छा के विरुद्ध, वह, इस नवीन वातावरण के अनुकूल बनने लग जाता है। जो व्यक्ति असाधारण शक्ति सम्पन्न हो, जिस की परमात्मा को ही रक्षा करनी अभीष्ट हो, उस की बात अलग हैं, पर ऐसा व्यक्ति कोई हजारों में एक-आध ही होता है, उसे अपवाद-स्वरूप समझ लेना चाहिये, वह हमारे उपर्युक्त कथन को खंडन करने वाला नहीं कहा जा सकता।

अपने शारीरिक कष्टों के, मानसिक भोजन के अभाव के,

और सब से अधिक विदेशीपन से भरे हुए वातावरण की बातों के, चिन्तन से किसी किसी मनुष्य के मस्तिष्क पर बहुत हानिकर प्रभाव पड़ता है। उस की बुद्धि मन्द हो जाती है। उस में कुछ पागलपन-सा आ जाता है। वह अपने इस जीवन की अपेक्षा मृत्यु को अधिक पसन्द करता है; यदि उस का वश चले तो प्रायः वह कोई ऐसा दुष्कृत्य करने में संकोच न करेगा जिस के फल-स्वरूप उसे उसकी मन-चाही मृत्यु प्राप्त हो जाय, और वह इस हर घड़ी के कष्ट से छुटकारा पा जाय।

कालापानी मृत्यु-दंड से भी बुरा है—यद्यपि कानून में कालेपानी का दंड मृत्यु-दंड से कुछ हल्के दर्जे का समझा जाता है, परन्तु अनेक विचारवान पुरुषों की दृष्टि में यह उससे कहीं अधिक कठोर है। यदि इस के दुष्परिणामों का कुछ ठीक अनुमान हो जाय तो अनेक आदमी इसे मृत्युदंड से अच्छा या नर्म न समझें, क्यों कि 'अपने देश की धरती और आकाश से, वायु और प्रकाश से, दूर रहना मनुष्य को प्रति दिन एक नयी मौत का मजा चखाता है।'

ओफ! वह मस्तिष्क मानव जाति का कैसा हित-नाशक होगा, जिसने इस दंड का आविष्कार किया। इस में 'अपराधी' के सुधार की तो गुंजायश ही नहीं—उसका जितना पतन हो जाय थोड़ा है। इस के अतिरिक्त कालेपानी के 'अपराधियों' की व्यवस्था करने वाले अधिकारी भी गौण रूप से इस

दंड के घातक परिणाम से मुक्त नहीं रह सकते। हर समय हिन्सक जानवरों के पास रहने से, और उनकी ही देख-रेख में लगे रहने से मनुष्य के कुछ मानवी गुणों के ह्रास होने की सम्भावना होती है। उसी प्रकार ऐसे 'घोर अपराधियों' के वातावरण में रहने वाले, और विशेषतया उन्हें दंड देने की व्यवस्था की चिन्ता में लवलीन, अधिकारी को भी अपने मानसिक या आत्मिक उत्थान का मार्ग निकालना कठिन है, पतन तो सन्मुख ही है।

स्वभाव-विरुद्ध जुर्म—छोटी उम्र के अपराधियों को काले-पानी की सजा देने से वे हानियां तो हैं ही, जो जेल की सजा से होती हैं, उन के अतिरिक्त यह भयंकर हानि और भी है कि इससे वहां स्वभाव-विरुद्ध जुर्म की वृद्धि होती है। यद्यपि यह बुराई कुछ अंश में जेलों में भी रहती है, पर कालेपानी में तो यह अतिशय मात्रा में होती है, और होना स्वाभाविक है। इसका विशेष कारण जैसा कि श्री भाई परमानन्द जी ने लिखा है,* यह है कि वहां लोगों को भिन्न भिन्न प्रदेशों से लाया जाता है, जिन में से कई कठोर चित्त और स्वभाव से ही बदमाश होते हैं। कुछ आदमी प्रायः कोमल प्रकृति के होते हैं। इन में से जो छोटी आयु के होते है, उन को डरा कर, नई जगह में काम की सख्ती दिखा कर, या कुछ लालच दे कर बिगाड़ना बहुत साधारण बात है।

---

* काले पानी की करावास कहानी।

इन बातों का बिचार करके, क्या भिन्न भिन्न राज्यों के अधिकारी अपने यहां के कानून से काले पानी की सजा, विशेषतया बालकों और अहिन्सक अपराधियों के लिये, सर्वथा उठाने की कृपा करेंगे ?

समाज रक्षा का विचार—कल्पना करो कि किसी आदमी का स्वभाव या आदत ऐसे अपराध करने की पड़गयी है जिन के लिये आज कल कालेपानी की सजा दी जाती है। क्या उस से समाज की रक्षा करने के लिये उसे कालेपानी का दंड न दिया जाना चाहिये ? हमने अन्यत्र बताया है कि अपराधी स्वभाव वालों को मनोविज्ञान वेत्ताओं की देख-रेख में रखा जाना चाहिये। उन के लिये नये ढंग के मानसिक चिकित्सालयों की व्यवस्था होनी चाहिये। ये 'औषधालय' सात समुद्र पार कालेपानी में रखने की आवश्यकता नहीं, ये तो मातृभूमि में ही, कही सुन्दर प्राकृतिक दृश्य वाली भूमि में, हां बस्ती या आबादी से कुछ दूर होने चाहिये। इन के अधिकारी हृदय-हीन कानून के पंडित होने की जरुरत नहीं, वे तो सहानुभूति-पूर्ण दयालु, मनुष्य स्वाभाव को सुधारने में दक्ष, मनोविज्ञान के आचार्य होने चाहिये। निदान, समाज-रक्षा के विचार से भी कालेपानी के दंड की पद्धति अनावश्यक और अनुचित है।

पहले कहा जा चुका है कि कालापानी लम्बी कैद का ही एक विशेष रूपान्तर है; और, कैद के विषय में हम अपने

सविस्तर विचार पहले प्रकट कर चुके हैं, इस लिये यहां काले-पानी के विषय में कुछ और अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है, पाठक इस विषय सम्बन्धी अन्य बातों का विचार स्वयं करलें।

देश-निर्वासन—कुछ राज्यों में विशेषतया राजनैतिक अपराधों के अपराधियों को देश-निर्वासन का दंड दिया जाता है, अथवा कुछ खास प्रकार के अपराधी जब कहीं दूसरे देश में चले जाते हैं तो उन्हें राज्य अपनी सीमा में नहीं आने देता। इन के खान-पान, रहन सहन, जीवन मरण आदि की वह राज्य कुछ चिन्ता नहीं करता। यदि सौभाग्य से ये अपने व्यवहार कौशल योग्यता आदि से दूसरे राज्य में अपना कुछ स्थान बना सकें तो इन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहती है, अन्यथा उनका निर्वाह होना भी कठिन है, फिर उन्हें मातृ-भूमि से दूर रहने और उस की सेवा करने से वंचित होने का जो मानसिक कष्ट होता है, वह तो वहां अनिवार्य ही है।

निर्वासितों की दृष्टि से—निर्वासित व्यक्ति प्राय: परिपक्व अवस्था वाले ही होते हैं, इस लिये यह आशा तो करनी ही नहीं चाहिये कि इस दंड से वे अपना मत बदल देंगे और उन का कुछ 'सुधार' हो जायगा। अनेक मनुष्यों का यह स्वभाव होता है कि जब उनके विचारों का विरोध होता है, या जब उन्हें अपने विचारों के लिये कष्ट उठाना पड़ता है, तो वे अपने विचारों में

और भी अधिक दृढ़ हो जाते हैं। यह बात अनेक देश निर्वासितों के बारे में चरितार्थ हुई है। इन सज्जनों का, निर्वासन से पूर्व जो अस्पष्ट या धुन्धला सा विचार था उस पर उन्हों ने निर्वासन के बाद खूब चिन्तन और मनन किया और फिर उसके प्रचार में तन मन से लवलीन हो गये। इस प्रकार निर्वासन का दंड, जहां तक निर्वासितों का सम्बन्ध है, सुधारक नहीं होता।

राज्य के लिये—फिर, इस दंड से अन्य नागरिकों के स्वतंत्र चिन्तन में बाधा उपस्थित होना तथा उनमें से कुछ की निर्वासितों के प्रति सहानुभूति हो जाना स्वाभाविक ही है। और, यह बात राज्य के लिये अन्ततः अच्छी नहीं है। इस के अतिरिक्त जब निर्वासित व्यक्ति अन्य राज्यों की शरण लेते हैं और वहां अनेक आदमी इन के सम्पर्क में आने लगते हैं तो निर्वासन करने वाले राज्य की निन्दा होती है, और उस के विषय में विश्व व्यापी लोकमत प्रतिकूल होने में सहायता मिलती है। यह ठीक है कि कुछ राज्य इस विषय में विशेष चिन्ता करते हुए मालूम नहीं होते; परन्तु जिस प्रकार व्यक्तियों के लिये लोक-लाज का विचार रखना उचित है, उसी प्रकार राज्य भी विश्व परिवार में अपने मान-प्रतिष्ठा की रक्षा करें, तो अच्छा ही है।

———

आठवां परिच्छेद

—:०:—

फांसी

'सब प्रमाणों से यह प्रकट है कि प्राण-दंड वास्तव में अपराध-निवारक नहीं होता। यह पशुत्व-पूर्ण कृत्यों के लिये वाधक न होकर उत्तेजक ही होता है।······इस दंड को उठा देने के पक्ष में स्पष्ट निर्णय हो जाने से देश में नैतिक दृष्टि से उत्तम प्रभाव होगा।'

—'डेली हेरल्ड'

प्राचीन काल में प्राण दंड का वाहुल्य—संसार में प्राण-दंड चिरकाल से प्रचलित है। पहले तो यह दंड बहुत ही अधिक दिया जाता था। ऐसे कितने ही अपराधों के लिये, जो आज कल बहुत हलके या साधारण समझे जाते हैं, पहले प्राण-दंड का ही विधान था। पाश्चात्य संसार में इंगलैंड स्वतंत्रता की जन्म-भूमि होने के लिये प्रसिद्ध है। वहां अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में डेढ़ सौ से अधिक प्रकार के अपराध ऐसे माने जाते थे, जिनके लिये कानून से प्राण-दंड होने की व्यवस्था थी।

उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक की बात है कि वहां एक शिलिङ्ग (लगभग बारह आने) से अधिक मूल्य की वस्तु चुराने वाले को फांसी की सजा देने का नियम था। राज-धर्म से भिन्न किसी अन्य मत को मानना भी अनेक देशों में बहुत समय तक ऐसा अपराध रहा है, जिसके लिये आदमियों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता था। जादू टोने या जालसाजियों के अपराधियों को भी पहले फांसी मिलने की प्रथा रही है।

प्राण-हरण की क्रिया—प्राचीन काल में प्राण दंड के लिये कहीं कहीं खूब धूम-धाम की जाती थी। इसका मानों एक उत्सव सा होता था। इस दंड की विधि भी एक से एक अधिक अनोखी और क्रूरता-पूर्ण थी। कहीं मनुष्यों को दीवार में चुना जाता था, कहीं वे रथ या गाड़ी के पहियों अथवा हाथियों के पावों के नीचे कुचले जाते थे, कहीं पेड़ों से बांधकर या कुछ हिस्सा जमीन में गाड़कर कुत्तों आदि से कटवा दिए जाते थे, कहीं पत्थर और इंटों की वर्षा द्वारा अपराधी के प्राण-हरण किये जाते थे। सूली या सलीब पर चढ़ाना, विष पिलाना, जल्लाद के खंजर द्वारा सिर धड़ से अलग करना या गले में फांसी का फन्दा लगाना, औटते हुए तेल की कढ़ाई में, अत्यन्त गर्म लोहे के तवों पर या चिता में बैठा कर जला देना मामूली बात थी। यद्यपि इनमें से कुछ बातों ने अब भी मानव समाज का पिंड नहीं छोड़ा है, तथापि सभ्य देशों में इनमें से

अधिकांश निंद्य और त्याज्य हैं। अब किसी को तड़पा तड़पा कर मारने से आदमी मानों उकता गये हैं। और, जल्दी से जल्दी, बिना आडम्बर के ही यह क्रिया निपटा दी जाती है। उन्नत पाश्चात्य राज्यों में प्राण-दंड के अपराधी को बिजली की कुर्सी पर बैठाया, और क्षण भर में प्राण पखेरू उड़े। अब तो 'सुगन्धित' गैस से भी अपराधी को मारने का प्रयोग होने लगा है।*

लोगों का अन्ध विश्वास—दुनियां में अधिकांश आदमी चलते प्रवाह में बह जाने वाले होते हैं। प्रवाह की दिशा ठीक है या नहीं, इसे सम्यग् विचार कर अपना कर्त्तव्य निश्चय करने वाले, आवश्यकता हो तो प्रवाह के विरुद्ध चलने वाले, व्यक्ति इने गिने होते हैं। यह बात प्राण-दंड के विषय में विशेष रूप से चरितार्थ होती है। यह जिस प्राचीन काल से आरम्भ हुआ, तब से अधिकांश आदमी इसके प्रत्यक्ष या गौण रूप से समर्थक ही होते आये हैं। साधारण लोगों का ऐसा अन्ध विश्वास होता है कि जो कुछ कानून कहता है, वह दुनिया भर के समझदारों की सम्मति है, उसके विरुद्ध कुछ कहना सुनना नहीं चाहिये। वे

---

* ८ मई १९३३ का समाचार है कि नेवादा राज्य में एक कैदी की कुर्सी के नीचे गंधक के तेजाब की एक बाल्टी रख दी गयी और ठीक समय पर जल्लाद ने उस तेजाब में सोडियम सीनाइट की गोलियां डाल दीं। १९ सेकेंड के अन्दर ही वह कोठरी सुगन्धित गैस से भर गयी। वह गंध इतनी तेज़ थी कि कैदी अचेत हो गया, और मर गया।

कानून को पीरपेगम्बरों के शब्दों की तरह मान्य, और उसमें तर्क वितर्क करने वाले को विकृत-मस्तिष्क समझते हैं। इस प्रकार जो आदमी यह कहने का साहस करता है कि फांसी का दंड उठा देना चाहिये, उसका कुछ आदमी उपहास करते हैं, बहुत से उसकी बात सुनी-अनसुनी कर देते हैं, कोई विरला ही उसपर गम्भीरता-पूर्वक विचार करता है।

विचारणीय बात—अनेक बार अच्छे योग्य व्यक्ति भी विशेष परिस्थिति बश या क्षणिक आवेश या उत्तेजना में आकर किसी की हत्या कर बैठते हैं, उस घटना के कुछ समय बाद फिर वह अपनी स्वाभाविक दशा में आ जाते हैं, वे भलेमानस बन जाते हैं, उनसे किसी और हत्या होने की सम्भावना मालूम नहीं होती, वे अपनी, पहले की हुई हत्या पर घोर दुख, या पश्चाताप का अनुभव करते हैं। इसके फल-स्वरूप अनेक के मन में समाज या राज्य की, त्याग और कष्ट-सहन पूर्वक, वृहत् सेवा करने की भावना का उदय हो सकता है। ऐसे आदमियों को फांसी देने से क्या लाभ!

प्राण दंड का फल—जिस व्यक्ति को प्राण-दंड दिया जाता है, उसका तो इससे कुछ सुधार होता ही नहीं, उसके लिये प्रायश्चित या आत्मोन्नति करने का अवसर ही नहीं रहता। सम्भवतः उसके लिये यह कोई दंड ही नहीं होता। प्राण निकलने के समय तक उसे भले ही कुछ चिन्ता सी हो, पीछे तो सभी

दुखों से उसका छुटकारा हो जाता है। यदि अपराधी ने किसी का खून किया है, तो जिसका खून हुआ है उसकी जान वापिस नहीं आ सकती। सम्भव है, उसके कुटुम्बियों को यह जानकर कुछ सन्तोष हो कि जिस व्यक्ति ने हमारे प्रिय जन का हम से वियोग कराया है, वह भी संसार में नहीं रहा। परन्तु, क्या इस इतनी सी बात के लिये खून के बदले मृत्यु-दंड क्षम्य समझा जाना चाहिये ?

मृत्यु-दंड लोगों पर आतंक या रौब जमाने के लिये दिया जाता है। परन्तु युद्धों में भाग लेने या उनका हाल पढ़ने सुनने से तथा अन्य कारणों से यह दंड अपना उद्देश्य पूरा नहीं करता। अनेक आदमियों को प्राण-दंड पाते हुए देखकर, या उनका हाल सुनकर भी हत्या आदि के अपराधों में कमी नहीं हो रही है।*

जो लोग राज-विद्रोह आदि में मृत्यु-दंड पाते हैं, उनमें से बहुत से हँसते हँसते मर जाते हैं। उन्हें इस बात की खुशी रहती है कि वे अपने विचार स्वातंत्र्य के कारण बलि वेदी पर

---

* पाठकों यह जानकर आश्चर्य होगा कि पहले इंगलैंड में जब अन्याय बहुत से अपराधों में जेब काटने के लिये भी प्राण-दंड दिया जाता था—और यह दंड खुले आम दिया जाता था, हजारों की संख्या में दर्शक उपस्थित होते थे—तो औरों को फांसी पाता देखते हुए भी अनेक आदमी दर्शकों की जेब काटने की क्रिया किया करते थे। अन्ततः यह दंड खुले आम दिया जाना बन्द कर दिया गया।

चढ़ गए। यदि वे विदेशी सरकार के राज-द्रोह सम्बन्धी कानून के शिकार होते हैं तो उन्हें अपने स्वदेश-प्रेम के कारण मरने में बहुत सन्तोष रहता है।

प्राण-दंड का निराधार समर्थन—हत्या करने वाला क्रोध, आवेश, अज्ञान आदि के कारण ही तो हत्या करता है; क्या किसी राज्य को ऐसा कार्य करना शोभा दे सकता है, जिससे उसमें क्रोध या अज्ञान आदि दुर्गुणों के होने का प्रमाण मिले? कुछ आदमी कह देते हैं कि लोगों को यह इच्छा होती है कि हत्यारों को फांसी दी जाय, इस वास्ते उन्हें फांसी दिया जाना बुरा नहीं है। यदि इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाय तो कैसा घातक परिणाम होगा! कुछ आदमी शराब पीने और मांस खाने वालों से ऐसी घृणा करने वाले होते हैं, कि यदि उनकी चले, तो वे संसार से उनका अस्तित्व हटा दें। कुछ आदमियों को व्यभिचारियों का जीवित रहना ना-पसन्द है। यदि राज्य इन लोगों के मतानुसार कार्य करे तो प्राण-दंड का क्षेत्र कहां तक विस्तृत हो जायगा!

कुछ लोगों का कथन है कि जिन आदमियों को प्राण-दंड दिया जाता है, वे इतने बुरे होते हैं कि समाज के हित के लिए उनका जीवित न रहना ही अच्छा है। अवश्य ही, हम देखते हैं कि कुछ संक्रामक रोग ऐसे होते हैं, कि उनमें ग्रस्त रोगियों का अन्य मनुष्यों के पास रहना खतरे से खाली नहीं होता। उनके रहने के लिए, बस्ती से बाहर एकान्त में व्यवस्था की जाती है,

जिससे उनके द्वारा गन्दी होने वाली हवा के कीटाणु अन्य स्वस्थ व्यक्तियों को हानि न पहुंचावें। परन्तु क्या कभी किसी ने यह सुना है, या कल्पना की है कि इन छूत की बीमारियों के रोगियों को एक दम मार ही दिया जाय ? फिर अपराध-रोग के रोगियों से ही, यह निर्दयता-पूर्ण व्यवहार क्यों किया जाता है ! निदान, प्राण-दंड के समर्थन की कोई बात तर्क-संगत नहीं ठहरती।

प्राण-दंड के दोष—यह तो स्पष्ट ही है कि प्राण-दंड को देख कर ही नहीं, उसकी बात सुनने से भी कभी कभी लोगों की हिन्सक प्रवृत्ति उत्तेजित होती है। फिर, संसार में कौन ऐसा व्यक्ति है, जिससे भूल नहीं होती या नहीं हो सकती ? विवेकवान व्यक्ति सदैव इस बात का यथेष्ट ध्यान रखते हैं कि भूल मालूम होने पर वे उसका सुधार कर सकें। परन्तु राज्य, अपराधियों को प्राण-दंड देकर, अपना भूल-सुधार का मार्ग पूर्णतया रोक देता है। संसार के इतिहास में समय समय पर अनेक ऐसे उदाहरण उपस्थित हुए हैं कि एक व्यक्ति हत्या या राज-द्रोह आदि के अपराध में प्राण-दंड से दंडित हुआ, अपील हुई, और उस अपील की भी अपील हुई, ऊँची से ऊँची अदालत ने भी प्राण-दंड का ही समर्थन किया, और उस व्यक्ति को फांसी दे दी गई। परन्तु, उसकी मृत्यु के कुछ समय बाद, ऐसी घटनाएँ सामने आ गईं जो न्यायाधीशों के उस विषय सम्बन्धी पूर्व ज्ञान को भ्रान्त तथा अपूर्ण सिद्ध करती हैं। वे स्पष्ट और

असंदिग्ध घोषणा करती हैं कि उस व्यक्ति को फांसी भूल से, दी गयी, उसके विषय में न्याय नहीं हुआ, अन्याय हुआ है। पर, अब क्या किया जाय ! हो सकता है कि कुछ सहृदय जज उक्त फैसले में भाग लेने से, अपने मन में, बहुत दुख मानते हों, परन्तु कानून ने, प्राण-दंड की व्यवस्था ने, उन्हें इस बात से सर्वथा वंचित कर दिया कि वे अपनी इस त्रुटि का कुछ सुधार कर सकें। वे सोचते हैं, ओफ ! अगर हम उसे फांसी की सजा न देकर कैद की ही सजा देते तो आज उसकी मुक्ति करा देते और उस निरपराधी से, जो दंड उसने बिना अपराध भुगता है, उसके लिये क्षमा मांग लेते। पर अब क्या हो सकता है ! प्रश्न केवल जजों का ही नहीं है। जब नवीन घटनाओं के ज्ञान से सर्वसाधारण यह अनुभव करते हैं कि राज्य के कानून के कारण एक सज्जन, बहुतों का मित्र, अनेकों का निकट सम्बन्धी बिना अपराध के मारा गया तो वे राज्य के प्रति कैसे भाव रखेंगे, यह विचारने का विषय है। क्या उनकी राज्य-निष्ठा को धक्का न पहुँचेगा ?

न्याय शास्त्रियों का एक सर्वमान्य सिद्धान्त यह होता है कि 'नौ अपराधी भले ही छूट जांय, पर एक निरपराधी को दंड न दिया जाय।' प्राण-दंड से इस सिद्धान्त पर सर्वथा हड़ताल फिर जाती है।

प्राण-दंड क्रमशः उठता जा रहा है—संसार में समय

समय पर ऐसे महानुभावों का आविर्भाव होता रहा है, जिन्होंने प्राण-दंड के विषय में स्वतंत्र चिन्तन किया। उन्होंने इस दंड की व्यर्थता, क्रूरता तथा पाशविकता समझी, और दूसरों को समझायी। विशेषतया योरप अमरीका में समाचार पत्रों, ट्रेक्टों, पुस्तकों और भाषणों द्वारा यह लोकमत तैयार किया गया कि इस 'कानूनी हत्या' द्वारा किसी नागरिक को अकाल-मृत्यु का ग्रास न बनाया जाय। इस उद्योग के फल-स्वरूप इन महाद्वीपों के बहुत से देशों में हत्या और राजद्रोह आदि को छोड़कर अन्य अपराधों के लिये यह दंड नहीं रहा है, तथा कुछ स्थानों में तो उक्त अपराधों के लिये भी यह दंड न देने के व्यवस्था हो गई, अर्थात् प्राण-दंड पूर्णतः उठ गया है।* पुर्तगाल ने सन् १८४६ ई० में यह दंड निर्मूल कर दिया था, हालैंड ने १८७० में, इटली ने १८९० में, नार्वे ने १९०२ में, रूस ने १९०३ में, आस्ट्रिया ने १९१८ में, स्वीडन ने १९२१ में, न्यूज़ीलैंड ने १९२५ में, इसे उठा दिया। इस्थोनिया, लिथुएनिया, लेटविया, सनमारिनो और रूमानिया के छोटे छोटे देशों की कानून की पुस्तकों से यह दंड हटा दिया गया है। दक्षिण अमरीका के बराज़ील, वेंजुएला, आरजंटाइन ने, और, मध्य अमरीका के कोस्टारिका, कोलम्बिया और होंडूरास ने भी इस दंड़ को रद्द कर दिया है। डेनमार्क और बेलजियम तथा फिनलैंड में यह दंड कानूनी तौर से हटाया नहीं

* V. F. Calverton के एक लेख के आधार पर।

गया है, परन्तु इनमें से प्रथम दो देशों में, तीस साल हो गये कोई फांसी नहीं हुई है। और, फिनलैंड में तो किसी को फांसी हुए लगभग सौ वर्ष ही हो चुके। संयुक्त राज्य अमरीका की कई रियासतों में भी ऐसी ही परिस्थिति है।

आशंका निर्मूल प्रमाणित हुई—बहुत से आदमियों को यह आशंका होती है कि यदि कानून से प्राण-दंड उठा दिया जायगा तो राज्य में हत्या-मूलक अपराधों की भरमार होने लगेगी, किसी की जान माल सुरक्षित न रहेगी। परन्तु जिन भू-भागों से प्राण-दंड की प्रथा हटायी गयी उनमें से केवल दो में—इटली और रूस में ही इस दंड का पुनः प्रचलित करने का अवसर आया, और इसका कारण भी वहां की विशेष सामाजिक परिस्थिति थी। अन्य किसी भी देश में इस विषय के निर्णय को बदलने की आवश्यकता न हुई। वहां के प्राप्त अंकों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि प्राण-दंड प्रचलित रहने के समय की अपेक्षा, उसके उठाये जाने के बाद, अपराधों की संख्या कम हो गयी है।

इङ्गलैंड में प्राण-दंड की व्यवस्था—प्राण-दंड उठाने की विविध मंजिलों के सम्बन्ध में इंगलैंड का इतिहास बड़ा मनोरंजक है।* सम्राट जार्ज तृतीय के समय (१७६०-१८२०) में उन

* Horace Wyndham की Criminology पुस्तक की सहायता से लिखित, 'माधुरी' के एक नोट के आधार पर।

अपराधों की संख्या २०० थी, जिन में प्राण-दंड की व्यवस्था थी। अपराधी चाहे १२ वर्ष का अबोध बालक हो अथवा ८४ वर्ष का जराजीर्ण और रोगी पुरुष, यदि उसके विरुद्ध प्राण-दंड का अपराध प्रमाणित हो जाता तो फिर उसे छोड़ा नहीं जा सकता था, उसे प्राण-दंड अवश्य मिलता था। विकृत मस्तिष्क वाले की भी इस दंड से मुक्ति नहीं थी। वे अपराध जिनके लिये फांसी की सज़ा दी जाती थी, और भी आश्चर्य उत्पन्न करने वाले थे। किसी के बाग में किसी ने अंगूर की बेल काट डाली, या अन्य कोई झाड़ नष्ट कर दिया, कोई कंजरों के साथ घूमता पाया गया, जहाज़ी पेंशनर बनने का जाल किया, या आम सड़क पर रूप बदले जाता देख पड़ा, अथवा लिखकर जालसाज़ी करने वाला प्रमाणित हुआ तो बस उसे फांसी की सज़ा मिलनी अनिवार्य थी। धीरे धीरे ऐसे छोटे अपराधों के लिये प्राण-दंड लोगों को क्रूर और कठोर जान पड़ने लगा। सन् १८२३ ई० में २०० के स्थान केवल १०० अपराध ऐसे रखे गये जिनके लिये प्राण-दंड की व्यवस्था थी। फिर भी १८२८ तक किसी के घर में घुसकर चोरी करने, अथवा घोड़ा चुराने एवं कागज़ पत्र में जालसाज़ी करने का अपराधी प्राण-दंड ही पाता था। सन् १८६१ ई० से केवल चार अपराध अर्थात् (१) सरकारी जहाज़ी अड्डों में आग लगाना, (२) बल-पूर्वक सामुद्रिक लूट मार करना, (३) राज-द्रोह, और (४) हत्या ही ऐसे अपराध रह गये हैं, जिनके लिये प्राण-दंड का विधान है। पहले दो प्रकार

के अपराधों पर विगत ७० वर्ष से कोई मामला ही नहीं चला है, एवं राज-द्रोह के अपराध में वोअर युद्ध के समय के एक व्यक्ति को, तथा विगत महासमर के समय एक व्यक्ति को फांसी हुई है। इंगलैंड में इस समय हत्या के अपराध में फांसी की सजा पाने वालों की संख्या प्रति वर्ष १२ के लगभग है। सन् १८७२ ई० में और इसके बाद कई बार पार्लिमेंट में फांसी की सजा को उठा देने के लिये प्रस्ताव हुए, पर प्रत्येक बार अस्वीकृत हो गये।

विगत वर्ष वहां पुनः इस प्रश्न पर विचार करने के लिये एक कमेटी नियुक्त की गयी थी। उसने पक्ष और विपक्ष में उपस्थित सब बातों को खूब ध्यान से सुना, तथा योरप और अन्य महाद्वीपों के उन देशों की वस्तु-स्थिति पर भी विचार किया जिन्होंने अपने यहां से यह दंड उठा दिया है। इस कमेटी ने दो वैकल्पिक सिफ़ारशें की हैं; पहिली यह कि कानून में कोई परिवर्तन करके, प्राण-दंड पाने वाले अपराधियों को राजकीय क्षमा अधिक परिमाण में मिला करे; कुछ वर्षों से औसतन सात व्यक्तियों में से तीन को मिल जाती है, अर्थात् उन्हें फांसी नहीं होती। कमेटी की राय है कि भविष्य में यह क्षमा और भी अधिक मिला करे, इस प्रकार यदि कोई दुष्परिणाम न हुआ तो प्राण-दंड का उपयोग अत्यन्त कम हो जायगा।

कमेटी की दूसरी वैकल्पिक सिफ़ारिश यह है कि पांच साल के लिये प्राण-दंड उठाने का कानून अभी बना दिया जाय, इस अवधि के बाद, आवश्यकता हो तो परिस्थिति की जांच की जाय,

और आगे के लिये इस विषय में निर्णय किया जाय। फांसी के दंड के बदले में सज़ा वही होगी, जो उन अपराधियों को होती है, जिनका वर्तमान स्थिति में प्राण-दंड क्षमा हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि इङ्गलैंड में प्राण-दंड उठाये जाने के पक्ष में लोकमत, चाहे मन्द गति से ही क्यों न हो, आगे बढ़ता जा रहा है।

सभ्यता का तकाज़ा—आज कल अनेक देशों के आदमी सभ्य कहलाने का दावा करते हैं, और वे अपनी सभ्यता का खूब बखान भी करते पाये जाते हैं। किसी समाज के सभ्य होने की एक पहचान यह होती है कि वह प्राणियों के जीवन की पवित्रता को समझे और अपने व्यवहार में सूचित करे। प्रत्येक विचारशील को यह स्वीकार करना होगा कि ज्यों ज्यों कोई समाज अधिक सभ्य होता जाता है, वह यदि अन्य प्राणियों के नहीं, तो कम से कम मनुष्यों के जीवन को अधिक पवित्र मानता और उसको रक्षा करता है। इतिहास बतलाता है कि जब आदमी जंगली हालत में थे तो वे प्रायः एक दूसरे का मांस खाजाते थे, और उन में देवी देवताओं को मनुष्यों की बलि देने का रिवाज था। जब आदमी अपनी उस अवस्था को पार कर गये तो उक्त नर-संहार का अन्त हुआ। सभ्यता में कुछ और आगे बढ़ने पर एक ही जाति बिरादरी वालों की पारस्परिक लड़ाइयां तथा घातक द्वन्द्व-युद्ध कम हुए। इस समय भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की, या राष्ट्र-समूहों की लड़ाइयां होती हैं, परन्तु प्रत्येक विवेकवान

सज्जन का कथन है कि ये लड़ाइयां सभ्यता के लिये कलंक हैं, और इनका अन्त होना चाहिये। इस प्रकार, सभ्यता की वृद्धि के साथ जब अन्य प्रकार से होने वाला नर-संहार बहुत निन्दनीय माना जाता है, क्या ही उत्तम हो कि जो प्राण-हरण इस समय दंड विधान से अनुमोदित है, वह भी उठा दिया जाय।

नवां परिच्छेद

—:०:—

दंड सम्बन्धी सिद्धान्त

"दंड व्यवस्था के उन विविध उपायों में से, जो प्रस्तावित हैं तथा कानून द्वारा प्रचलित किये गये हैं, किसी ने अपने समर्थकों की आशा पूरी नहीं की। बनावटी सजाएं सुधार करने में विफल हुई हैं। अनेक दशाओं में, उन्हों ने अपराधों की वृद्धि ही की है।"

—हर्बर्ट स्पेन्सर।

आज कल अपराध-चिकित्सा के लिये जो दंड दिये जाते हैं, उनके विषयमें ब्यौरेवार लिख चुकने पर, अब हम दंड-प्रथा की भावना, उद्देश्य तथा उसके सिद्धान्तों पर कुछ प्रकाश डालना चाहते हैं।

दंड की भावना—यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो अपराधी जितनी हानि दूसरों को पहुंचाता है, उस से कहीं

अधिक वह स्वयं अपने तईं पहुंचाता है। उसको होने वाली हानि का स्वरूप स्थूल नहीं होता, वह नैतिक दृष्टि से ही होती है, इस लिये वह स्वयं उसको या दूसरों को बहुत कम मालूम होती है। अन्य व्यक्ति सोचते हैं कि अपराध करने वाले को, उसके किये का दंड भुगतना चाहिये। वे चाहते हैं कि उसके विविध कार्यों में वाधा उपस्थित हो, जिस से भविष्य में वह अपराध करने का विचार न करे, दूसरे आदमी भी अपराध करने से रुकें, और समाज का कार्यक्रम निर्विघ्न चलता रहे। कुछ मनुष्य बहुधा अपराधी को जहां तक उसके कार्य का उनसे व्यक्तिगत सम्बन्ध होता है, क्षमा करने को भी तैयार हो जाते हैं। परन्तु जब वे समाज या राज्य का विचार करते हैं, तो उन्हें उस को क्षमा करना ठीक नहीं जचता। इस प्रकार कानून में, अपराधी द्वारा उत्पन्न किये हुए क्षोभ को शान्त करने के लिये उस (कानून) की दंड सम्बन्धी मांग पूरी की जानी आवश्यक समझी जाती है।

दंड देने के उद्देश्य—दंड देने के पक्ष और विपक्ष में लोगों के अनेक विचार हैं। दंड के समर्थन में जो बातें कही जाती हैं, अर्थात् इस के जो उद्देश्य बतलाए जाते हैं, वे मुख्यतया चार हैं :—(१) इस से समाज की अपराधियों से रक्षा होती है अर्थात् यह रक्षात्मक है; (२) दंड को देख सुन कर दूसरे आदमी भय मानते हैं, वे अपराध करने से रुकते हैं, अर्थात् यह अपराध-

निवारक है; (३) इस से अपराधी को अपने किये का फल मिलता है, और, इस बात से, जिसकी हानि हुई हो, उसे संतोष होता है, अर्थात् यह प्रतिफल मूलक है; (४) दंड पाकर अपराधी फिर वैसा अपराध न करेगा, वह सुधर जायगा, अथवा यों कह सकते हैं कि दंड सुधारक है। अब हम इन विचारों का कुछ स्पष्टीकरण करेंगे और यह भी बतलाएंगे कि इन का दूसरा पहलू क्या है, अर्थात् इन के विपक्ष में क्या वक्तव्य है।

दंड रक्षात्मक है?—समाज की अपराधियों से रक्षा करने की बात बहुत आदमी मानते हैं। इस विचार से दिये हुए दंड का उद्देश्य अपराधी की स्वच्छन्दता में रुकावट डालना, होता है, न कि उसे कष्ट पहुंचाना। यह दंड, सिद्धान्त से कष्टदायी नहीं होता; हां, व्यवहार में, किसी विशेष कारण से या खास स्थिति में ऐसा मालूम हो, तो बात दूसरी है। उदाहरणवत्, इस विचार से, जेलों का उद्देश्य बाहर वालों की रक्षा करना है, न कि भीतर वालों को दंड देना। हो सकता है कि कैदियों को जेल के भीतर बन्द किया जाना पसन्द न हो और वे इसे दंड ही मानते हों, परन्तु यह लाचारी है, इसका और कोई मार्ग नहीं, औरों की रक्षा के लिये उनका कैद किया जाना आवश्यक है। यह ऐसी ही बात है, जैसे हम किसी कटखने कुत्ते को बांध कर रखते हैं, हमारी इच्छा कुत्ते को कष्ट देने की नहीं है, परन्तु हम यह अवश्य चाहते हैं कि वह हमारे पास आने जाने वाले निर्दोष आदमियों को न काटे;

इसलिये उसे बांध कर रखना जरुरी है, इसमें भले ही उसे कुछ कष्ट मालूम होता हो। इस प्रकार उक्त सिद्धान्त के अनुसार, कैद आदि का वास्तविक उद्येश्य समाज की रक्षा करना है। पर यह उद्येश्य पूरा नहीं होता, यह पहले बताया जा चुका है।

२—दंड अपराध-निवारक है?—इस का आशय यह है दंड का उद्देश्य अपराधों की पुनरावृत्ति को रोकना है, इस अर्थ में नहीं कि अपराधी फिर अपराध न करे (यह तो सुधारक सिद्धान्त है), वरन् इस अर्थ में कि दूसरे आदमी वैसा अपराध न करें। इस में मुख्य विचार यह नहीं होता कि अपराधी ने क्या किया है, वरन् यह होता है कि अपराधी को मिलने वाले दंड को देख सुन कर दूसरे आदमी अपराध करने से रुकें, जैसे कि खेतों में पक्षियों को डराने के लिये एक पुतला खड़ा कर दिया जाता है, जिससे वे फसल को नुकसान न पहुंचावें। दंड का यह सिद्धान्त न्यायाधीश की इस (अंगरेजी) कहावत में सूचित होता है कि 'तुम्हें दंड इसलिये नहीं दिया जाता कि तुमने भेड़ चुराई है, वरन् इस लिये दिया जाता है भेड़ें न चुरायी जाया करें, (अर्थात् दूसरे आदमी भेड़ों की चोरी न करें)।' महाशय रस्किन के शब्दों में इस का अर्थ यह है कि जो कुछ तुमने किया है, उसके लिये तो हम तुम्हें क्षमा कर सकते हैं, परन्तु औरों को डराने के वास्ते तुम्हें दण्ड दिया जाना आवश्यक है।

निसन्देह ऐसी योजना बड़ी दूषित या अन्याय-मूलक कही

जानी चाहिये, जिसमें एक के लाभ के लिये (भले ही वह एक व्यक्ति न होकर समूह ही क्यों न हो) दूसरे को दंड दिया जाय। इसमें इस आदर्श की अवहेलना होती है कि किसी मनुष्य को औरों के लिये साधन न मान कर स्वयं साध्य माना जाना चाहिये।

३—**दंड प्रतिफल-मूलक है?**—कुछ आदमियों का मत है कि अपराधी को उसके किये का फल मिलना चाहिये; जब दूसरे आदमियों की समझ में यह बात अच्छी तरह आ जायगी कि अमुक कार्यों के करने से बुरा परिणाम भुगतना पड़ता है तो वे भी वैसे कार्यों को करने से रुकेंगे। इस सिद्धान्त का मुख्य आधार बदला लेने की भावना है, जो सभ्यता की वृद्धि के साथ साथ अधिकाधिक निन्द्य मानी जाती है। यह ठीक है कि इस सिद्धान्त के समर्थक इस बात की आवश्यकता समझते हैं कि बदला लेने में व्यक्तिगत, उत्तेजनात्मक या अज्ञान-मूलक भावों का समावेश न होना चाहिये। जिस व्यक्ति को क्षति पहुँची हो, वह इस कार्य को स्वतंत्र न्यायालय को सौंप दे, जो इसे निस्पक्ष होकर करे। इस व्यवस्था में उस व्यक्ति को अपना झगड़ा स्वयं निपटाने की आवश्यकता से मुक्त रखा जाता है। यह एक बड़ी सामाजिक सुविधा है। इस से मानों तुम्हारी जगह लड़ने का काम तुम्हारे बड़े भाई करेंगे। परन्तु फिर भी प्रश्न यह रहता है कि क्या बदला लेने की नीति, चाहे वह किसी भी ढंग से

काम में लाई जाय, स्वयं कुछ ठीक है ? क्या इसका नैतिक प्रभाव अच्छा पड़ता है ?

दंड सुधारक है ?—इस सिद्धान्त के अनुसार अपराधी को दंड आदि देने में या उसके साथ व्यवहार करने में, मुख्य लक्ष्य यह होना चाहिए कि अपराधियों का, उनके आचरण का, सुधार हो जाय। वे भविष्य में अपराध न किया करें। यह तभी हो सकता है जब अपराधी के व्यक्तित्व का, उसके स्वभाव आदतों तथा वातावरण आदि का यथेष्ट ध्यान रखा जाय। प्रत्येक अपराधी की अपने अपने ढंग की अलग अलग समस्या होती है। इसलिये उसे हल करने का ढंग भी पृथक् पृथक् होना चाहिये। इस सिद्धान्त के अनुसार प्राण-दंड के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के आधुनिक दंडों का अनौचित्य स्पष्ट है। वास्तव में यह सिद्धान्त तो अपराधियों को दंड देने की अपेक्षा उससे प्रेम और सहानुभूति का बर्ताव करने का निर्देश करता है।

दंड के उपर्युक्त चार सिद्धान्तों में से रक्षात्मक सिद्धान्त का लक्ष्य तो वास्तव में दंड नहीं होता। शेष तीन सिद्धान्तों में अपराध निवारक सिद्धान्त निर्दोषों को लक्ष्य में रख कर, प्रतिफल सूचक सिद्धान्त अपराधी के अपराध को लक्ष्य में रखकर, और सुधार सिद्धान्त स्वयं अपराधी को लक्ष्य में रखकर व्यवस्था करता है। इनकी आलोचना की जा चुकी है।

प्राकृतिक दंड का सिद्धान्त—कुछ सज्जनों का मत है

कि अपराधियों को दंड देने में प्रकृति का अनुकरण किया जाय। अगर बच्चे का सिर मेज से टकराता है तो उसके चोट लगती है, अगर वह दुबारा गलती करता है तो पुनः कष्ट उठाता है। क्रमशः वह जान लेता है कि ऐसे कार्य करने का स्वाभाविक परिणाम कष्ट उठाना होता है। यह निश्चित और अटल होता है, इसमें कोई रियायत या पक्षपात नहीं होता, इस की कहीं अपील नहीं हो सकती। संसार में भी बहुधा ऐसा ही अनुभव होता है। सुस्त आदमी अपना रोजगार खो बैठता है, असावधान व्यापारी अपने ग्राहक खो देता है और जल्दबाज सट्टा-फाटका करने वाले अपना द्रव्य लुटा देते हैं। सदैव गलती का दंड मिलता है, दंड परिणाम-कारक होता है, अपराधी को सुधारने वाला होता है। बहुत से नये ढंग के स्कूलों में इस पद्धति का यथा-सम्भव अनुकरण किया जाता है। जहां तक बन आता है, शिक्षक दंड देने का काम नहीं करता, वह इस बात का प्रयत्न करता है, कि गलती करने वाले को उसका स्वाभाविक परिणाम सहना पड़े। उदाहरणवत् यदि कोई लड़का अपनी चीजें इधर-उधर बखेर देता है तो उन्हें समेट कर रखने का काम भी उसी को करना होता है।

स्थूल दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रकृति ने उचित कार्यों का प्रसन्नता से, और अनुचित कार्यों का दुख से सम्बन्ध जोड़ रखा है। परन्तु प्राकृतिक दंड परिमाण में प्रायः अपराध के समान नहीं होता। वह सदैव सुधारक भी नहीं होता। कभी

कभी तो दंड मनुष्य को कार्य करने में असमर्थ कर देता है, अथवा उसकी जान ही ले डालता है।

प्राकृतिक परिणाम के सिद्धान्त को व्यवहार में लाने से कई कठिन समस्याएं सामने आती है। मेज़ में सिर लगने से बालक को चोट लगती है, परन्तु यदि एक बालक छड़ी हाथ में लेकर दूसरे को मारे तो क्या मारने वाले को प्राकृतिक रूप से ही दंड मिल जायगा ? एक बालक ने अपनी थाली का खाना गिरा दिया, अब उक्त सिद्धान्त के अनुसार यदि उसे खाने को न दिया जाय, तो क्या यह दंड बहुत भयकर, और हां, उससे अधिक न होगा जो इस सिद्धान्त का विचार न करने वाले, डांट-डपट, या थोड़े बहुत शारीरिक कष्ट के रूप में दिया करते हैं। प्राकृतिक दंड की रीति में नैतिक समस्या हल नहीं होती। झूठ बोलने का क्या परिणाम होता है ? अविश्वास और मान-भंग। परन्तु यह तभी तो होगा, जब दूसरों को उस झूठ का पता लग जायगा। और, इसका पूर्ण निश्चय नहीं रहता। फलतः यह दंड ऐसे अनिवार्य रूप से नहीं मिलता, जैसा प्राकृतिक घटनाओं में सम्भव होता है। संसार में सदैव अच्छे आदमी ही सुख सम्पत्ति के अधिकारी नहीं होते, और यह तो और भी कम देखने में आएगा कि किसी की स्मृद्धि उसके सत्कार्यों के अनुपात से हो। बहुधा सख्त मेहनत करने वाले को उसका यथेष्ट प्रतिफल नहीं मिलता, जब कि कुछ आदमी अपेक्षाकृत थोड़ा परिश्रम करके कहीं अधिक द्रव्य या मान-प्रतिष्ठा पा जाते हैं। हां, सच्चरित्र और परिश्रमी

आदमियों को अपने सत्कार्य से संतोष हो सकता है; और, पापियों को सांसारिक दृष्टि से स्मृद्धिशाली होने पर भी मनस्ताप हो सकता है। परन्तु यह भी प्रत्येक दशा में अनिवार्य नहीं है। अस्तु, प्राकृतिक दंड सिद्धान्त साधारणतया उपयोगी होने पर भी, यह समाजों और राज्यों की अपराधियों सम्बन्धी समस्या को हल करने का अचूक साधन नहीं हो सकता।

प्रायश्चित का विषय—इस सम्बन्ध में प्रायश्चित के विषय में भी विचार कर लेना उपयोगी होगा। प्रायश्चित के हम उस रूप को नहीं ले रहे हैं, जैसा वह आज कल बिगड़ कर हो गया है।* हम प्रायश्चित का अर्थ लेते हैं, मन की शुद्धि, अपने दुष्कृत्य के लिये हृदय से पश्चाताप, आगे भविष्य में वैसा न करने की दृढ़ प्रतिज्ञा, संयम और इन्द्रिय-दमन सम्बन्धी विविध साधनों का प्रयोग। इस अर्थ में प्रायश्चित अवश्य ही अपराध-निवारक

---

*अब यह प्रायः धर्माधिकारियों के हाथ में एक धन-प्राप्ति का साधन मात्र है। भारतवर्ष में, सर्व साधारण में यह भावना प्रचलित है कि अमुक पाप करने वाले को अमुक तीर्थ यात्रा करनी चाहिये, इतने ब्राह्मणों को भोजन करना चाहिये या इतना रुपया मंदिर या देवालय में जमा करा देना चाहिये। ईसाई देशों में बहुधा ऐसा हुआ है और अब भी कुछ अंश में हो रहा है कि इतना रुपया गिरजाघर में, पादरी को या पोप को भेंट कर देने से अमुक पाप से मुक्ति हो सकती है। ऐसी मुक्ति प्राप्त करना केवल धनी लोगों के वश की बात है, निर्धनों के लिये तो यह प्रायः उनका और उनके बाल बच्चों का पेट काटने की बात है।

है। इस से वे बुराइयां भी नहीं होने पातीं जो विविध प्रकार के शारीरिक दंडों से होती है, जिनका वर्णन हम ने प्रसंगानुसार किया है। अस्तु, प्रायश्चित अपराध-निवारण का बहुत उत्तम साधन है; शर्त यही है कि यह वास्तविक हो, कृत्रिम या दिखावटी न हो।

दंड देने में अपराधी की जाति या वर्ण का विचार— भिन्न भिन्न प्रकृति, परिस्थिति, संस्कृति या अवस्था वाले सब अपराधियों को एक ही प्रकार का दंड न देकर प्रत्येक से उस की विशेष दशा आदि के अनुरूप बर्ताव करना युक्ति-संगत है, और इस प्रकार भारतवर्ष में प्राचीन काल में जो विविध वर्णों के अपराधियों के साथ व्यवहार की भिन्नता रखी गयी, वह उस सीमा तक तो उचित कही जा सकती है, जहां तक उस का उद्देश्य भिन्न भिन्न प्रकृति के व्यक्तियों से पृथक् पृथक् व्यवहार करना हो। परन्तु एक वर्ण के सभी आदमियों की प्रकृति सदैव एकसी होना स्वाभाविक नहीं है। अतः वर्ण-भेद-मूलक दंड-विधान का, सिद्धान्त या न्याय से समर्थन नहीं किया जा सकता। हमारे यहां के प्राचीन दंड विधान में—कम से कम जिस रूप में वह हमें इस समय ज्ञात है—प्रायः द्विजों और उनमें भी ब्राह्मणों के साथ बेहद रियायत की गयी, और शूद्रों तथा अनार्यों के प्रति बहुत ही कठोरता। प्राचीन योरप में दासों का जीवन उन के मालिकों की इच्छा पर निर्भर था। मध्य कालीन योरप में

रोमन केथलिक और प्रोटेस्टेंट ईसाइयों ने एक दूसरे के प्रति बहुत कम न्याय किया है। इसलामी राज्यों में अन्य जातियों या धर्मावलम्बियों के लिये समानता की मांग करना उपहास-जनक था। स्मरण रहे, हम शास्त्रों के सिद्धान्तों की बात नहीं कहरहे हैं, हमारे सामने व्यवहार की बात है।

आज कल सभ्यता बहुत आगे बढ़ी हुई बतायी जाती है; परन्तु अब जाति और धर्म ने वर्ण का रूप ले लिया है। अमरीका आदि देशों में हवशियों के प्रति, और योरपियन जातियों का रंगदार जातियों के आदमियों के प्रति, कैसा न्याय होता है, यह विचारणीय है। अवश्य ही, जब मामला दो काले या पीले व्यक्तियों के बीच में हो, तो प्रायः न्याय हो जाता है, परन्तु सोचना यह है कि जब एक काला या पीला आदमी किसी गौर वर्ण जाति के व्यक्ति के प्रति कुछ अपराध करता है तो क्या उसे वही दंड दिया जाता है जो एक गौर वर्ण के व्यक्ति को दिया जाता, अगर वह किसी काले या पीले व्यक्ति के प्रति वैसा ही अपराध करता ? सभ्यता और उच्च आदर्शों का दम भरने वाले इस विषय में गम्भीरता और शान्ति से विचार करें। वह समय कब आएगा, जब दंड-विधान में जाति, धर्म या वर्ण आदि के कल्पित भेदों के आधार पर पक्षपात या अन्याय होना सर्वथा बन्द होगा; और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यथायोग्य व्यवहार होगा।

दसवां परिच्छेद

—:o:—

दंड नीति की आलोचना

मैं दुस्साध्य अपराध-रोग से ग्रस्त हूँ, बाबा ! किसी भी वैद्य हकीम ने आज तक मेरे इस मर्ज़ का ठीक इलाज नहीं किया।.........मुझे ज़हरीली दवाइयां पिलायी गयीं, किसी ने प्यार की, हाय ! एक मात्रा आज तक भी मुझे नहीं दी।

—वियोगी हरि

"सज़ा के बदले सुधार करना ही हमारे पीनल कोडका आधार होना चाहिये। सजा से दिल में भय उत्पन्न किया जा सकता है, जबरदस्ती आदतें डाली जा सकती हैं; लेकिन उससे भलमनसी कभी नहीं आ सकती। इसलिये नैतिक पुनरुज्जीवन के साधन के तौर पर वह केवल व्यर्थ ही नहीं, है, बुरी भी है, और इसलिये त्याज्य है। दुःख या सजा देकर जो नैतिकता दाखिल की जायगी वह झूठी नैतिकता होगी, इसलिये जो लोग नीति की मर्यादा निश्चित रूप से स्वीकार कराना चाहते हैं उन्हें दूसरे साधनों का ही उपयोग करना होगा।"

—लार्ड लिटन

वर्तमान अपराध-चिकित्सा का विषय समाप्त करने से पूर्व यह विचार कर लेना आवश्यक है कि यह चिकित्सा पद्धति

अर्थात् दंड-नीति कहां तक सफल या विफल रही है, क्या भविष्य में इसका रहना उचित है।

क्या अपराधियों को दंड दिया जाना चाहिये?— प्रायः लोग इस बात पर तर्क वितर्क किया करते हैं कि अपराधियों को क्या और कितना दंड दिया जाय, जो माप तोल में उनके किये हुए अपराध की मात्रा या गुरुता के अनुरूप हो। वे एक दंड की निरर्थकता और दूसरे की उपयोगिता सिद्ध किया करते हैं, अथवा दंड की मात्रा के विषय में अपना विचार उपस्थित किया करते हैं। वे मानों यह पहले ही मान लेते हैं कि अपराधी को दंड मिलना आवश्यक है। परन्तु हमारा इस मूल बात में ही मत-भेद है। हम पाठकों से शान्त चित्त से यह विचार करने के लिये अनुरोध करते हैं, कि क्या दंड देना वास्तव में आवश्यक और उपयोगी होगा? हम प्रायः रोगियों से सहानुभूति दर्शाया करते हैं, उनकी सेवा सुश्रुषा करते हैं। जो रोगी अपनी इच्छा से, या जान बूझ कर बीमार नहीं पड़ा है, उसे कोई व्यक्ति दंड देने का विचार नहीं करता। फिर, अपराधी को अपराध-रोग के रोगी को, दंड क्यों दिया जाता है! एक आदमी शारीरिक या मानसिक विकारों के कारण अपराधी बन रहा है तो उस के विकारों को सुयोग्य चिकित्सकों द्वारा दूर न करके उसे दंड देना कैसे युक्ति-संगत है? इसी प्रकार राजनैतिक, आर्थिक, या सामाजिक परिस्थिति आदि के कारण होने वाले अपराध, उक्त कारण का सम्यग्

निवारण हुए विना, दंड मात्र के उपयोग से कैसे दूर हो सकते हैं ?

अच्छे अच्छे विचारवान भी दंड देने का समर्थन क्यों करते हैं ? बात यह है, उन्हों ने कभी इस विषय में पर्याप्त विचार ही नहीं किया। वे मानसिक योग्यता वाले होने पर भी इस विषय में अन्ध-विश्वासी हैं, वे लोकाचार या रूढ़ि से अपना पिंड छुटा कर, स्वतंत्र चिन्तन करने का अवसर नहीं पा सके हैं। यह तो आसानी से समझ में आजाना चाहिये कि अपराधी की समस्या अधिकांश में सामाजिक और चिकित्सा सम्बन्धी समस्या है, इस का हल शरीर-विज्ञान या मनोविज्ञान द्वारा होना चाहिये। इस समस्या का कानून से कुछ विशेष दशाओं में ही, और, थोड़ा सा ही सम्बन्ध है।

पुरातन-मत-वादियों का बोल बाला—दुख का विषय है, अभी उक्त धारणा रखने वाले व्यक्ति बहुत ही अल्प संख्यक हैं; वे इने गिने ही कहे जा सकते है। अन्य विषयों में बहुत कुछ जागृति हो जाने, और नये विचारों का प्रवाह आ जाने पर भी अपराधियों के विषय में सर्व साधारण के क्या, अच्छे अच्छे विद्वानों और समझदारों के विचार भी पुराने जमाने के, अनुदार, और तर्क-शून्य है। अनेक आदमियों का दृढ़ विश्वास है कि अपराधों को रोकने का एक मात्र उपाय कानून और दंड विधान को और अधिक कठोर बना देना है। उनके मत से, जिन

आदमियों पर अपराध करने की आशंका हो, उन्हें गिरफ़ार करने, दोषी ठहराने और दंड देने के लिये अधिक उग्र विधियों का प्रयोग होना चाहिये।

दंड नीति की आलोचना—परन्तु प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि दंड जितना कठोर होगा, अपराध उतने ही अधिक संख्या में, एवं दुस्साहस-पूर्ण होंगे। जो आदमी एक बार कोई दंड भुगत लेता है, उसे क्रमशः उसको सहन करने की आदत पड़ जाती है, वह भविष्य में उस से भी अधिक कठोर दंड को सहन करने के योग्य बन जाता है। दंड की भयानकता उसके लिये क्रमशः कम हो जाती है। आप दंड को कठोर करते जाइये; अपराधी उसे सहन करने की क्षमता बढ़ाता जायगा। इस प्रतिद्वन्दिता या मुक़ाबिले की प्रत्येक मंजिल पर आपकी ही पराजय होती रहेगी, अन्ततः आप स्वीकार करेंगे कि अब हम अपराधी के लिये और कोई दंड निश्चय करने में असमर्थ है; बेहतर है कि इसको आजन्म काले पानी या देश-निर्वासन का दंड दिया जाय, अथवा इसके प्राण-हरण कर लिये जांय, और सदा के लिये हमारा इससे पिन्ड छुटे। आप चाहे जो कहा करें, यह आपकी निराशा और पराजय की पराकाष्ठा की असंदिग्ध घोषणा है।

आधुनिक दंड विधान अपने उद्देश्य में विफल तो रहा ही है, इसने अपराधों और अपराधियों की संख्या-वृद्धि में भी

सहायता दी है। इसने ऐसे अनेक आदमियों को अपराधी ठहरा कर भयंकर कष्ट दिया, जिन्होंने भूल या परिस्थिति वश कोई गलती कर दी थी, परन्तु जिनका हृदय, स्वभाव और मनोवृत्ति वास्तव में दूषित नहीं थी। इसने उक्त व्यक्तियों को सुयोग्य नागरिक बनाने के बजाय समाज-विद्रोही और घोर अपराधी बना दिया।

अस्तु, कुछ विशेष दशाओं को छोड़कर, जिनमें मनोविज्ञान अनुमति दे, साधारणतया अपराधियों को दंड दिया जाना व्यर्थ और हानिकर होता है।

अपराध शास्त्र का आदेश—वर्तमान दंड विधान अवैज्ञानिक है। इसका लक्ष्य अपराधी को उसके किये अपराध के अनुसार दंड देना है। आधुनिक अपराध-शास्त्र-वेत्ता का, इसके विपरीत, यह मत है कि अपराधी से उस का अपराध स्वीकार कराना, या उसे अपराधी करार देना वास्तव में महत्व-पूर्ण बात नहीं है। मुख्य विचार अपराधी के व्यक्तित्व का होना चाहिये; उस का सुधार कैसे हो, वह सुयोग्य नागरिक किस प्रकार बनाया जाय, उसे कैसे व्यवहार के पश्चात् मुक्त किया जाना चाहिये या बिना किसी प्रकार के व्यवहार के ही वह मुक्त रहे। इस विचार-धारा के अनुसार अपराधी को दंड देने या उस से बदला लेने की कोई भावना ही नहीं रहती। इस का लक्ष्य होता है, अपराधियों की चिकित्सा, और, इस में हमारी दृष्टि भविष्य की ओर

रहनी चाहिये। जो अपराध हो गया, उस का विचार करते रहना समाज या राज्य के हित के लिये इतने महत्व का विषय नहीं, जितने महत्व की बात यह है कि अब आगे इस प्रकार का कार्य न हो, समाज की उस से रक्षा हो, तथा 'अपराधी' व्यक्ति का भावी जीवन सुधरे।

इस सम्बन्ध में निम्न लिखित घटना विचारणीय है। किसी स्कूल में एक दिन एक विद्यार्थी एक विशेष प्रकार की सफेद टोपी पहन कर गया। मास्टर साहब ने इसे भयंकर और अक्षम्य अपराध समझा। उनके क्रोध का पारा इस घटना से अपने ठिकाने पर न रहा। वे उस विद्यार्थी को कुछ बुरा भला कह सुन कर ही नहीं रह गये, उन्हों ने दंड देने के अधिकार का भरपूर उपयोग किया। अच्छा; इस का परिणाम क्या हुआ? अगले दिन न केवल वह विद्यार्थी, वरन् उस क्लास के समस्त विद्यार्थी वैसी ही टोपी पहन कर बड़ी शान के साथ स्कूल में गये। अब मास्टर साहब के पास लज्जित होने के सिवाय और क्या चारा था! अगर मास्टर साहब तनिक यह सोचने का कष्ट उठाते कि वास्तव में वैसी टोपी पहनना कोई अपराध नहीं है, और, यदि इसे अपराध ही माना जाय तो इस का उत्तरदायित्व ऐसे व्यक्तियों और परिस्थितियों पर है, जिन पर उस विद्यार्थी का कुछ नियंत्रण नहीं है, तो वे दंड देने की भयंकर भूल न करते। पुनः यदि मास्टर साहब इस घटना पर इतना अधिक ध्यान न देकर इसे आयी-गयी मान लेते, तो ही कौनसा बिगाड़ हो जाता! सम्भव था, धीरे धीरे वो

चार विद्यार्थी उस का अनुकरण करते। परन्तु मानों मास्टर साहब को विद्यार्थियों की यह मंद गति की प्रगति अच्छी न लगी, उन्हों ने अपने व्यवहार से सब विद्यार्थियों में एक दम परिवर्तन कर दिया। अथवा, हम मास्टर साहब को ही क्यों दोष दें, सम्भव है, इस विषय में सूत्र संचालन का कार्य दूसरी ही शक्तियों ने किया हो। अस्तु, हमारा मतलब दंड विधान की निरर्थकता दर्शाने का है। क्या समाज और राज्य के उत्तरदायी व्यक्ति इस विषय में समुचित विचार करेंगे ?

प्राचीन काल में कठोर दंड की व्यवस्था क्यों थी ?— सम्भव है, कुछ पाठकों के सामने, विशेषतया जो प्राचीन बातों के बहुत समर्थक होते हैं, एक समस्या उपस्थित हो। प्राचीन काल में दंड की व्यवस्था थी, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। एक जिज्ञासू यह प्रश्न कर सकता है कि ऐसी कठोर दंड प्रणाली प्राचीन काल में क्यों प्रचलित थी, और क्योंकि उस समय इसके होने से कहीं कहीं समाज में अपराध कम होने का भी उल्लेख मिलता है, इसलिये इसका विरोध करना कैसे उचित है ? इस सम्बन्ध में दो बातें स्मरण रखने की हैं। प्रथम तो यह कि मनुष्य-समाज प्रारम्भिक अवस्था में बहुत सरल स्वाभाव वाला होता है, उसका जीवन सभ्य लोगों की दृष्टि में चाहे अच्छा न जचता हो, वह हृदय में निष्पाप होता है। उसके लिये कठोर दंड बहुत प्रभाव-कारी हो सकती है। पुनः सम्भव है कि उस समय सर्व साधारण

के हृदयों में सूक्ष्म भावनाएँ ठीक तरह न उतरती हों, इसलिये भी उनके वास्ते कठोर और स्थूल उपायों का अवम्बन किया जाता हो।

विशेष वक्तव्य—हमें यह विचार करना चाहिये कि वर्तमान काल में प्राचीन परिस्थिति नहीं है, और जो उपाय उस समय की दशा में काम में लाये गये और सम्भवतः सफल भी हुए, उन का इस बदली हुई परिस्थिति में उपयोग हितकर नहीं हो सकता। उदाहरणवत् प्राचीन काल में, अनेक देशों में ऐसी व्यवस्था थी, और, अब भी साधारण गंवार आदमियों में ऐसा पायाजाता है कि वे रोगियों का इलाज चिकित्सकों द्वारा न करा कर उन के वास्ते जन्त्र मंत्र, टोना और जादू करने वालों की खोज करते हैं। कहीं कहीं तो रोग निवारण के लिये पशु पक्षियों की बलि दी जाती है; और जंगली आदमी तो मनुष्यों तक की बलि देकर स्वास्थ-लाभ करने में विश्वास करते हैं। भारतवर्ष में बच्चों के रोगी होने की दशा में 'माता' की पूजा की जाती हैं; अनेक माता पिता तो 'माता' की पूजा को खास खास रोगों के लिये राम-बाण समझते हैं। कुछ देशों में पहले पागल अपराधियों पर भी बा-कायदा मुकद्दमे चलते थे, और उन्हें तत्कालीन कानून के अनुसार विविध दंड दिये जाते थे। अब आदमी प्रायः यह समझते हैं कि रोगों के इलाज के लिये जन्त्र मंत्रादि न करके, सुविज्ञ चिकित्सकों के आदेशानुसार व्यवस्था करनी चाहिये। अब यह भी विचार किया जाने लगा है कि पागलपन एक रहस्यमय चिकित्सा-

सम्बन्धी समस्या है, जिसका इस विषय के विशेषज्ञों द्वारा इलाज हो सकता है। अस्तु, अन्य रोगों की भांति, अपराध-रोग के चिकित्सा और चिकित्सा-शैली के सम्बन्ध में भी हमें अपना दृष्टि-कोण बदल देना चाहिये।

द्वितीय खंड

अपराधों का निदान

रोग है, और रोगी है। वैद्य जो भी उसकी औषधि कर रहे हैं। पर क्या वैद्य महाराज ने रोग का निदान भी ढूंढ निकाला है? यदि निदान नहीं ढूंढा तो सब औषधियां व्यर्थ हैं।

—'कर्मवीर'

पहला परिच्छेद

—:o:—

अपराधों की उत्पत्ति

"हम अपराध-रोग के बाहरी लक्षणों को दबाने में जितना ज़ोर लगाते हैं, उसका सौवां हिस्सा भी यदि हम उसके उद्गम की ओर ध्यान दें तो अधिकांश 'अपराधी' न रहें, सुयोग्य नागरिक बन जांय।"

निदान की आवश्यकता—अपराध-रूपी रोगों का निवारण किस प्रकार हो सकता है, तथा उनकी कौन सी चिकित्सा तर्क-युक्त, वैज्ञानिक, या बुद्धि-संगत होगी, किस में अधिक से अधिक सफलता मिलने की आशा है, इसका विचार करने से पूर्व अपराध-रोग का निदान कर लेना अवश्यक है। अर्थात् यह जान लेना चाहिये कि यह रोग होता क्यों है, इसके कारण क्या क्या हुआ करते हैं। जो व्यक्ति किसी रोगी के फोड़े पर, बिना इस बात का विचार किये कि वह फोड़ा क्यों हुआ है और रोगी के शरीर में विकार क्या है, पट्टी बांध देता है, वह योग्य चिकित्सक नहीं कहा जा सकता। उसकी 'चिकित्सा' से रोगी को प्रायः लाभ होने की

सम्भावना नहीं, उलटे हानि की आशंका है। और, यदि रोगी के एक फोड़े में आराम हो गया, किन्तु उसके दो तीन फोड़े और निकल आये तो ऐसी चिकित्सा के होने से उसका न होना ही अच्छा है। इस बात की सच्चाई को सर्व-साधरण भली भांति समझ सकते हैं। परन्तु अपराध-चिकित्सा में इसे कुशल और अनुभवी प्रबन्धक और विचारक भी प्रायः भूल जाते हैं।

प्रत्येक अपराधी के लिये एक से एक अधिक कठोर दंड अच्छा बतलाया जाता है। उससे अपराधी का सुधार होता है या नहीं, उस से समाज की रक्षा में सहायता मिलती है या नहीं, इसका कुछ विचार नहीं किया जाता। एक अपराध के लिये सजा पा जाने पर अपराधी पुनः वैसा ही अथवा उस से भी गुरुतर अपराध करता है और फिर कठोरतर सजा पाता है। इस प्रकार कोई कोई व्यक्ति तीन तीन चार चार बार दण्डित होता है। इससे स्पष्ट है कि हमारी निदान प्रणाली में दोष है, और अपराधों के निवारण या चिकित्सा के लिये आवश्यक है कि उनका सम्यग् निदान किया जाय। यद्यपि इस में सन्देह नहीं है कि अपराधों का वास्तविक और ब्यौरेवार निदान होना बहुत कठिन है, तथापि कुछ मोटी मोटी बातों का तो भली भांति विचार किया ही जाना चाहिये।

अपराधों के मूल कारण—विचार करने पर ज्ञात होता है कि मनुष्य अपराध (एवं अन्य कार्य) कुछ तो इस लिये करते हैं

कि जन्म से उनका शारीरिक तथा मानसिक गठन उस के लिये अनुकूल होता है, और कुछ इस लिये करते हैं कि अन्य लोगों की बातें देख सुनकर उन्हें इसके करने की आदत पड़ जाती है, अथवा, किसी प्रकार के (आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक या राजनैतिक आदि) दबाव के कारण वे उसे करने को विवश हो जाते हैं। प्रायः देखने में आता है कि जब भाफ़ या पानी के स्वाभाविक प्रवाह को रोक दिया जाता है तो वह एक सीमा तक तो रुका रहता है, फिर किसी ओर से दबाव पड़ने की दशा में जहां कहीं से भी उसे रास्ता मिल सकता है, वह तोड़-फोड़ करके फूट निकलता है। ऐसे ही जब कोई पशु चारों ओर से घिर जाता है, तो वह कल्पनातीत साहस करके निकल भागने के लिये उद्योग करता है। यही हाल मनुष्य का है। आदमी एक सीमा तक भूख प्यास सह सकता है, समाज और धर्म के आदेशों को मान लेता है, राजनैतिक ज्यादतियों को बर्दाश्त करता है। परन्तु, आखिर कब तक? एक सीमा से आगे उसे यह सहन नहीं होता। फिर वह जो कुछ उचित समझेगा, करेगा। महात्माओं या धर्माचार्यों के वाक्य, वे चाहे जितने सुन्दर और मनोहर क्यों न हों, उसे रोक न सकेंगे; समाज-नीति या दण्ड नीति का भी उस पर कुछ नियन्त्रण न रह सकेगा; वह लोकलज्जा के भय को तिलांजलि दे बैठता है, और जब कि वह अपनी जान देने को स्वयं सहर्ष तैयार होता है तो उसे कोई दण्ड, वह जेल का हो या कालेपानी का या फांसी का, क्या भयभीत कर सकता है!

इस प्रकार मनुष्य जो अपराध (या अन्य भले बुरे कार्य) करते हैं, प्राय: उन के मूल कारण मुख्यतया निम्न-लिखित होते हैं :—

(क) आनुवंशिक स्थिति।
(ख) शारीरिक और मानसिक स्थिति।
(ग) प्राकृतिक परिस्थिति।
(घ) आर्थिक परिस्थिति।
(च) सामाजिक परिस्थिति।
(छ) राजनैतिक परिस्थिति।
(ज) 'धर्म' अर्थात् मत।
(झ) 'सभ्यता'।

कभी कभी इन में से दो या अधिक मिल कर भी अपराधों के होने में सहायता देते हैं। इन में से प्रत्येक के सम्बन्ध में ब्यौरेवार विचार अगले परिच्छेदों में किया जायगा। यहां यह बता देना आवश्यक है कि इन में से पहले दो कारणों को अवयव सम्बन्धी, तथा शेष को बाह्य कह सकते हैं। पहले प्रकार के कारण का सम्बन्ध अतीत काल से होता है। दूसरे प्रकार का कारण आधुनिक ही होता है, और बहुधा प्रत्यक्ष में वही अपराध-जनक कार्य कराने वाला होता है। प्राय: अवयव सम्बन्धी कारण से किसी व्यक्ति में, बीज रूप से अपराध-प्रवृत्ति होने पर भी, जब तक उसे कोई बाहरी पर्याप्त कारण नहीं मिलता, वह अपने अपराध-मूलक विचार को कार्य में परिणत नहीं करता।

परिस्थिति और दंड—दण्ड प्रणाली में विश्वास करने वाले प्राय: उक्त बातों के प्रभाव को भूल जाते हैं, या उसका पूर्णतः अनुमान करने में गलती करते हैं। जो आदमी परिस्थिति से प्रेरित होकर अपराध करने लगता है, वह इस बात का विचार करके नहीं रुकता कि सैकड़ों आदमी ऐसे अपराध के कारण गिरफ्तार हुए और सजा पा चुके हैं। सम्भवतः वह अपने मन में सोचता है कि यद्यपि दूसरे पकड़े गये हैं, मैं बच जाऊंगा, उन्होंने कुछ असावधानी से काम किया, मैं खूब सावधान रहूँगा। वह अपने दुस्साहस की जोखम उठाने को तैयार रहता है। एक बार एक अपराधी से पूछा गया, क्यों जी, दण्ड के भय से तुम अपराध करने से क्यों नहीं रुके? उसने जवाब दिया कि अगर आदमी इस तरह जोखम उठाने से बचा करें तो उनका जीवन ही दूभर हो जाय।

इस तरह के विचार होते हैं, जो मनुष्य, परिस्थिति से बाध्य होकर किया करते हैं। ऐसे आदमियों को कोई दण्ड विधान अपराध करने से कैसे रोक सकता है? जिन आदमियों को आर्थिक परिस्थिति से, भूख प्यास के कष्ट में व्याकुल रहना पड़ता है, वे धीरे धीरे अधिक से अधिक दण्ड की कल्पना करके उस से परिचित हो जाते हैं, और वे हर समय की मुसीबत की अपेक्षा, प्राण दंड से क्षण भर में होने वाली मृत्यु को अधिक अच्छा समझने लगते हैं। ऐसी ही बात अन्य प्रकार की परिस्थितियों के सम्बन्ध में है।

क्या मनुष्य स्वतंत्र नहीं है?—यह कहा जा सकता है कि यदि मनुष्य परिस्थितियों से ऐसा प्रभावित होता है तो फिर उसकी कार्य करने की स्वतंत्रता क्या हुई? क्या वह परिस्थितियों के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकता? क्या वह प्रतिकूलताओं का सामना करके, अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं कर सकता? बात कुछ अंश में ठीक है। जिस प्रकार दूषित जलवायु में रह कर, अथवा अपर्याप्त या अशुद्ध भोजन करते हुए भी कुछ आदमी रोगी नहीं होते, इसी प्रकार कुछ आदमी प्रतिकूल आर्थिक सामाजिक आदि परिस्थितियों में अपना मानसिक तौल बनाये रखते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ सज्जन ऐसे होते हैं कि भूखे रहने की दशा में, अपने शरीर का, थोड़ा थोड़ा करके नष्ट होना सहर्ष स्वीकार करेंगे, परन्तु चोरी या रिश्वत आदि अनुचित उपायों से उदर-पूर्त्ति कदापि न करेंगे; एवं चहुं ओर लोभ, विलासिता और व्यभिचार का वातावरण होते हुए भी पूर्ण संयमी, निस्वार्थी और आत्म-त्यागी होने का परिचय देंगे। निस्सन्देह ऐसे सज्जन धन्य हैं, ये राज्य और समाज की शोभा हैं। परन्तु सर्व-साधारण में ये औसतन फी सैकड़ा कितने होते हैं? और, यदि ये थोड़े से महानुभाव कभी कभी परिस्थितियों का सफलता-पूर्वक सामना कर सकते हैं, तो क्या यह कहना तर्क-संगत होगा कि परिस्थितियों का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता?

अपराधों में नियम-बद्धता—समाज शास्त्र के अन्य कई एक अंगों की भांति, अपराध-शास्त्र भी अभी पूर्णता को नहीं पहुंचा है, इस के नियमों के सम्बन्ध में अभी बहुत कुछ बिचार और अनुसंधान होना शेष है। अन्यान्य बातों में यह भी एक प्रश्न है कि क्या अपराधों के विषय में कुछ निश्चित नियम निर्धारित किये जा सकते हैं। कुछ लेखक तो इस विषय पर अपनी असंदिग्ध स्वीकृति देते हैं। उदाहरणार्थ सुप्रसिद्ध अंक-शास्त्री महाशय क्वेटलेट का कथन है—'अपराधों में इतनी नियम-बद्धता पायी जाती है, कि कुछ कहा नहीं जा सकता। एक बार जो अपराध जितनी संख्या में होते हैं, दूसरी बार भी अपराध उतनी ही संख्या में होते हैं। ऐसे अपराध जो पारस्परिक कलह से उत्पन्न होते हैं उन में यही बात पायी जाती है। खूनों की संख्या प्रायः प्रति वर्ष एक सदृश ही रहती है। विचित्रता यह है कि जिस साधन से प्रतिवर्ष खून किया जाता है, उस साधन की संख्या में भी अन्तर नहीं पड़ता। इस विषय में जितनी अधिक खोज की गयी, उतना ही अधिक रहस्य मालूम होता गया। आत्मघात के अन्दर भी कोई नियम काम करता प्रतीत होता है, क्यों कि प्रति वर्ष लगभग एक समान संख्या ही आत्मघात करती है। इस से मालूम होता है कि विशेष प्रकार की सामाजिक अवस्था में आत्मघात की संख्या नियत रहती है। यदि सामाजिक अवस्था में कई वर्ष तक कुछ भी अन्तर न आए तो नियत संख्या के पुरुष

अवश्यमेव प्रति वर्ष आत्मघात कर लिया करेंगे। उन को इस कार्य से कोई भी शक्ति रोक नहीं सकती।' ❀

आवश्यकता है कि भिन्न भिन्न देशों की विविध, प्रकार के अपराधों की, बहुत से वर्षों की लगातार तुलनात्मक संख्याओं का अध्ययन किया जाय, और साथ ही यह विचार रखा जाय कि सामाजिक स्थिति तथा अन्य विशेष कारणों का उन पर क्या प्रभाव पड़ा, तभी इस बात की यथेष्ट जांच की जा सकती है कि उपर्युक्त निष्कर्ष कहां तक ठीक है। हमारे सामने उपर्युक्त प्रकार की यथेष्ठ सामग्री न होने से हम ऐसे कथन की समुचित आलोचना करने में असमर्थ हैं। इस विषय के जिज्ञासुओं को इस बात की गवेषणा तथा परीक्षा करके देखनी चाहिये।

————

❀ 'सभ्यता का इतिहास'—श्री प्राणनाथ विद्यालंकार।

दूसरा परिच्छेद

—:o:—

आनुवंशिक स्थिति

पहले कहा जा चुका है कि मनुष्यों की भिन्न भिन्न परिस्थितियां विविध अपराधों का कारण होती हैं। अब हम इस विषय में विशेष विचार करेंगे। इस परिच्छेद में आनुवंशिक स्थिति के विषय में लिखेंगे। इस स्थिति के विचार का आधार अपराधियों सम्बन्धी नवीन दृष्टि कोण है, अतः पहले उसी पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

नवीन दृष्टि कोण—अब से कुछ समय पूर्व तक अपराध-शास्त्र में प्रायः अपराधों के सम्बन्ध में ही, विचार किया गया, अपराधियों की दृष्टि से इस विषय का विवेचन नहीं हुआ। पुराने दंड विधान में पाश्चात्य देशों में, कुछ सुधार अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। आरम्भ में सुधारकों का लक्ष्य यही रहा कि अपराधियों को दंड देने के लिये सुनिश्चित सिद्धान्त रहें, और न्यायाधीश उन अभागों को मनमाने दंड न दिया करें। इन सुधारकों ने यह मान रखा था कि कुछ अपवादों को छोड़ कर सब अपराधियों में बुद्धि और भावनाएं साधारण व्यक्तियों की

भांति होती है, और वे जो अपराध करते हैं, उसे जान-बूझ कर करते हैं। इस प्रकार मुख्य विचार अपराध-विषयक ही रहा। पीछे इसमें क्रमशः परिवर्तन हुआ, और अपराधियों की आनुवंशिक स्थिति पर अधिकाधिक विचार किया जाने लगा, तथा इसे अधिक महत्व भी दिया जाने लगा।

आनुवंशिक स्थिति—आधुनिक विचारकों का मत है कि अपराधियों में खासी संख्या (साधारण अवस्था में लगभग एक-तिहाई) आनुवंशिक अपराधियों की होती है। इन अपराधियों में समाज-विरोधी या समाज को हानि पहुंचाने की जो प्रवृत्ति होती है, उसका कारण उनका जन्म से ही होने वाला शारीरिक या मानसिक गठन है, जो अन्य साधारण व्यक्तियों से बहुत भिन्न होता है। बहुधा उन में, गर्भावस्था से ही कुछ मस्तिष्क सम्बन्धी विभिन्नता होती है, जो मुंह, दांत, खोपड़ी, आदि के शारीरिक विकारों सहित उन में ऐसे मनोभावों की उत्पत्ति करती है, जैसे आदिम असभ्य मनुष्यों में होते हैं, और जो चोरी, हत्या आदि अपराधों के रूप में प्रकट होते हैं।

अपराध करने की प्रवृत्ति आनुवंशिक होती है, इसका यह आशय नहीं है कि जो व्यक्ति जन्म से अपराधी है, उसके माता पिता अपराधी रहे होंगे, अथवा उसकी संतान भी अवश्य अपराध-प्रवृत्ति वाली होगी; इसका सम्बन्ध कई पीढ़ियों के अन्तर से हो सकता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि

आनुवंशिक स्थिति के परोक्ष और प्रत्यक्ष दो भेद होते हैं। परोक्ष परिणाम ऐसे निम्न प्रकार के वंश या कुल से सम्बन्धित होने के कारण होता है जिस में पागलपन, बहरापन, जननेन्द्रिय सम्बन्धी रोग, अथवा मादक द्रव्यों के सेवन से होने वाला शारीरिक या मानसिक विकार हो। जातीयता का प्रभाव इसी श्रेणी का होता है, कुछ जातियों के अपेक्षाकृत अधिक आदमी चोरी, ठगी, हत्या, लड़ाई झगड़े या बदमाशी आदि के लिए कुप्रसिद्ध होते हैं। यह आनुवंशिक स्थिति का परोक्ष परिणाम है। प्रत्यक्ष परिणाम उन व्यक्तियों में दृष्टि-गोचर होता है जो अपराध-प्रवृत्ति वाले माता-पिता की सन्तान होते हैं। इसका प्रभाव प्रायः अधिक होता है, कारण कि इसका सम्बन्ध निकटवर्ती होता है।

जन्म-जात अपराधियों के कुछ लक्षण—जांच करने पर जन्म-जात अपराधियों में कई प्रकार के विचित्र लक्षण सामुहिक रूप से मालूम हुए हैं। शरीर-शास्त्र-वेत्ताओं ने पता लगाया है कि उनके सिर, आंख, कान, मुंह, नाक, दांत, ठोडी, बाल, पेड़ू (उदर का निम्न भाग) और कन्धों की बनावट में कुछ भेद होता है, तथा उनकी शारीरिक क्रियाओं में भी कुछ विलक्षणता होती है; उदाहरणवत् उनकी स्पर्श शक्ति कम होना, अर्थात् आघात होने पर त्वचा में दर्द कम मालूम होना, देखने, सुनने, सूंघने और चखने की शक्ति तीक्ष्ण होना, शरीर में बल तथा फुर्तीलापन होना

आदि। इस प्रकार ये व्यक्ति प्राचीन जंगली या असभ्य आदमियों से मिलते-जुलते हैं। इनकी आदतें या इच्छाएं भी कुछ ऐसी ही होती हैं, जैसे शरीर को गोदना, सुस्ती में पड़े रहना, अपने धन्धे को मन लगाकर न करना, उसे बार बार बदलते रहना, नशा और ऊधम करना, कुछ न कुछ बुराई करने में आनन्दित होना, न केवल किसी प्राणी की हत्या करना, वरन् उसकी लाश को चीरना फाड़ना और उसके रक्त को पीना।

जन्म-जात अपराधियों के लक्षण पुरातन असभ्य आदमियों से ही नहीं मिलते, वरन् मांसाहारी पशुओं या निम्न श्रेणी के प्राणियों से भी मिलते हैं। उनके जबड़े बड़े होते हैं, दांत कुत्ते के दांतों की तरह काटने वाले और तेज होते हैं। उनकी भुजाएं बन्दरों की भुजाओं की तरह लम्बी होती हैं। वे उन से चलने के सिवाय चढ़ने का भी काम लेते हैं। दाढ़ी के बाल कम होते हैं, यद्यपि शरीर के अन्य भागों में वे खूब होते हैं। उन के पावों में पकड़ने और थामने की शक्ति होती है। हथेली में रेखाएं कम रहती हैं। मुंह में गाल की जगह थैलियां सी होती हैं, नाक चपटा, और खोपड़ी अर्थात् सिर की हड्डी, 'एप' (एक प्रकार के बन्दर) की खोपड़ी की तरह नोकदार होती है। आंख की जगह का गढ्ढा शिकारी पक्षियों की भांति बड़ा होता है। चेहरे का, नीचे का हिस्सा तथा जबड़ा बढ़ा हुआ होता है, जैसा कि हबशियों या जानवरों का होता है। दांत संख्या में अधिक और कुछ दशाओं में सांपों के दांतों की तरह दो पंक्तियों में होते हैं।

जन्म-जात अपराधी, स्त्रियों में कम होते हैं। परन्तु जो स्त्रियां जन्म-जात अपराधिनी होती है, वे उस प्रकार के मनुष्य अपराधियों की अपेक्षा बहुत भयंकर होती हैं। उन के शारीरिक लक्षण आदि उसी तरह के होते हैं, जैसे मनुष्यों के ऊपर बताए गए हैं।

उनके अपराध—जन्म-जात अपराधी कुल अपराधियों में से लगभग एक-तिहाई होते हैं। अपराधी-संसार में इनका बड़ा महत्व है। वे बार-बार जनता के सामने आते हैं, और उन के अपराध बहुत घोर और भयंकर होते हैं। [शेष दो-तिहाई अपराधी तो ऐसे आदमियों में से होते हैं, जो कभी कभी ही अपराध करते हैं, ये साधारण व्यक्तियों से विशेष भिन्न लक्षण वाले नहीं होते।] जन्म-जात अपराधी अपना जीवन-क्रम उन्हीं अपराधों से आरम्भ करते हैं जिनकी पीछे भी विशेषता या अधिकता रहती है।

'सन् १८७४ ई० में अमरिका के एक छान-बीन करने वाले व्यक्ति ने यह पता लगाया कि न्यूयार्क के जेलखानों में एक ही परिवार के कुछ लोगों ने कई प्रकार के अपराध किये हैं। इस व्यक्ति ने इन अपराधियों की सात पीढ़ियों तक के लोगों के पिछले कारनामों का भी पता लगाया। उसने इस परिवार के जिन ७०९ सदस्यों का पता लगाया उन में से ४४७ कोई न कोई अपराध करके जेल गये थे। इसके बाद परिवार के २२८० सदस्यों की जांच की गई। यह मालूम हुआ कि इन अपराधियों का एक मात्र पूर्वज १८ वीं

शताब्दी के अर्ध भाग में एडीरोएडाक्स, (संयुक्त राष्ट्र अमेरिका) में रहता था। उसका जन्म १७२० में हुआ था। इसकी सन्तान में से २८२ व्यक्ति शराब पीने के आदी, २७७ वेश्याएं, ३६६ बिल्कुल दरिद्र, १७१ अपराधी, और ६० चोर हैं। १० की हत्या की जा चुकी है और ३०० व्यक्ति बचपन में ही मर चुके हैं।'❀

उनके मनोभाव—बहुधा उनको नसों सम्बन्धी ऐसी बीमारी होती है जिससे उनको समय समय पर आकस्मिक अचेतनता का दौरा हो जाता है। उन में प्राकृतिक प्रेम की भावना कम होती है, वे अपनी सन्तान के प्रति तो प्रायः उदासीन रहते हैं। इसके विपरीत वे अपरिचित व्यक्तियों या पशुओं से बहुत स्नेह प्रकट करते हैं। उन में अहंकार, आडम्बर, चंचलता, बदला लेना, लम्पटपन आदि का भाव विशेष रूप से होता है, तथा बुद्धिमानी और दूरदर्शिता की कमी रहती है। उन्हें अच्छे बुरे की प्रायः पहचान नहीं होती। वे हर किसी आदमी को लूटना मारना अपना अधिकार समझते हैं, और जो कोई उनके इस कार्य में बाधक होता है, वह उनके विचार से अनुचित करता है। उन्हें अपने किये का पश्चाताप नहीं होता। उन में दग़ाबाजी या धोखेबाजी की प्रवृति बहुत प्रबल होती है, वे प्रलोभन में पड़कर बहुधा अपने साथियों का रहस्य उद्घाटित कर देते हैं।

❀ 'प्रताप'।

उपर्युक्त लक्षणों में से एक एक दो दो बातें तो बहुत से साधारण व्यक्तियों में भी होती है, परन्तु किसी में एक साथ बहुत-सी बातें कम ही मिलती हैं। इसके विपरीत, जन्म-जात अपराधियों में से किसी विरले में ही इन का अभाव होता है, अधिकांश में ये बातें प्रायः सामुहिक रूप से मिलती हैं। इस प्रकार मनुष्यों में उक्त लक्षणों से जन्म-जात अपराधियों की एक पृथक् ही श्रेणी हो जाती है। इन लक्षणों में से बहुत से ऐसे हैं, जो दुष्कृत्य करने वालों में स्वभावतः हो जाते हैं। अंगुलियां, जबड़े, दांत, बाल, कान आदि की आकृति एक विशेष ढंग की होने का कारण यह भी होता है कि निम्न जातियों में गर्भ के पांचवे छटे महिने में शरीर का विकास कुछ अवरुद्ध हो जाता है।

सभ्यता और आनुवंशिक अपराधी—यह कोई आश्चर्य-जनक बात नहीं है कि सभ्य जातियों में भी प्रति सैकड़ा कुछ बालिग आदमी ऐसे काम करने वाले हों, जो समाज को हानिकर, और कानून से दंडनीय हों; कारण कि जिन कार्यों को अपराध समझा जाता है, उन के करने की प्रवृत्ति मनुष्यों में सृष्टि के आरम्भ से ही है, और कुछ आदमी अब इतने समय बाद भी पुरातनावस्था के आनुवंशिक संस्कार लिये होते हैं। प्रकृति में यह घटना कुछ अनोखी नहीं है। बहुत सी बातें जो हजारों वर्ष पूर्व बड़े पैमाने पर होती थीं, और अब जिन का समय व्यतीत हुआ माना जाता है, उन की भी स्मृति, कुछ सूक्ष्म रूप

से ही क्यों न हो, प्रकृति कभी कभी कराती रहती है। प्राचीन काल में लोगों के पैरों की अंगुलिया, हाथ, दांत, जबड़ा, आदि ऐसे होते थे कि उन्हें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पेड़ों पर चढ़ने, वस्तुओं को छीनने झपटने, चीरने-फाड़ने आदि की सुविधा हो। अब हजारों लाखों वर्ष व्यतीत होने पर भी कुछ आदमियों की शरीर-रचना ऐसी ही होती है। अब भी उन के शरीर पर बाल होते हैं तथा अब भी वे अपने प्राचीन पूर्वजों की भांति शरीर गोदने, सुस्ती में पड़े रहने, गंवारू भाषा बोलने, लड़ने-झगड़ने, बदला लेने आदि की रुचि वाले दिखाई पड़ते हैं।

विशेष वक्तव्य—आनुवंशिक स्थिति का अपराधों से कुछ सम्बन्ध अवश्य होता है, इस में तो प्रायः मत भेद नहीं है, पर वह सम्बन्ध ठीक किस सीमा तक, अथवा किस किस रूप में होता है, इस विषय में निश्चयात्मक रूप से ब्यौरेवार बातें कहना बहुत कठिन है। इस परिच्छेद की अधिकांश बातें विशेषतया एक अंगरेजी पुस्तक❋ के आधार पर ली गयी हैं जिस के लेखक ने अपने जीवन के कई वर्ष निरंतर अन्वेषण करके इस विषय के कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि जिन निर्णयों पर वह पहुँचा है, वे प्रत्येक देश काल में पूर्णतया सत्य प्रमाणित होंगे। आवश्यकता है कि

❋ "The Criminal Man" by C. Lombroso.

अभी इस विषय में भिन्न भिन्न तत्वान्वेषी विविध परिस्थियों को लक्ष्य में रख कर पर्याप्त खोज करें, और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा समुचित सिद्धान्त स्थिर किये जांय।

तीसरा परिच्छेद

—:o:—

शारीरिक और मानसिक परिस्थिति

"अपराधी एक रोगी है, जिसे चिकित्सा की आवश्यकता है। वह मानसिक दृष्टि से रोगी है, जैसे कि वह शारीरिक दृष्टि से रोगी है। कोई स्वस्थ बालक कभी अपराधी नहीं होता।"

—'फ़िज़िकल कलचर'

इस परिच्छेद में यह विचार करना है कि शारीरिक और मानसिक स्थिति का, मनुष्य पर अपराध करने के सम्बन्ध में क्या प्रभाव पड़ता है। हम पिछले परिच्छेद में आनुवंशिक स्थिति का विचार कर चुके हैं। अतः यहां उसी शारीरिक और मानसिक स्थिति का विचार किया जायगा जो आनुवंशिक नहीं होती। शारीरिक स्थिति के विचार से मनुष्यों का एक प्रत्यक्ष भेद स्त्रियों और पुरुषों का है, अतः हम पहले इसी दृष्टि से विचार करते हैं।

स्त्री-पुरुष भेद—कुछ जांच करने वालों को मालूम हुआ है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां प्रायः कम अपराध करती हैं। और, यदि उन के बाल-हत्या के, या बे-वफा पति या प्रेमी की हत्या के अपराधों को पृथक् कर दिया जाय, जो वे बहुधा भावुकता के कारण किया करती हैं, तो उन के अपराध और भी कम रह जाँय। परन्तु यह बात घोर तथा हिन्सात्मक अपराधों के विषय में है, साधारण अपराध करने में स्त्रियां पुरुषों से कम नहीं हैं। कुछ पाश्चात्य लेखकों का विचार है कि स्त्रियों की वेश्यावृत्ति को अपराध न माना जाय, परन्तु दूसरों का इस से मत-भेद है। उन के विचारानुसार वेश्या अपराधी ही है। अस्तु, वेश्याओं द्वारा अन्य अपराध कम होने का अनुमान किया जाता है। अधिकांश विचारकों का मत है कि सभ्यता की वृद्धि के साथ स्त्रियों के घोर अपराधों की भी मात्रा बढ़ती जाती है, और पुरुषों के अपराधों के समान होती जाती है।

पूर्वोक्त अपराधों के अतिरिक्त, स्त्रियां प्रायः वे अपराध अधिक करती हैं, जो उन्माद या हिस्टीरिया की दशा में होते हैं, अथवा आकस्मिक होते हैं। उन के मुख्य अपराध क्षुद्र, विशेषतया घरेलू चोरी करने, अपराधियों को ठहराने, दूसरे अपराधियों की सहायक बनने आदि के होते हैं।

यह बात विशेष ध्यान देने की है कि प्रायः माता बनने के बाद स्त्रियों में दूरदर्शिता, विवेक, दया, प्रेम, तथा नैतिक

भावनाओं की वृद्धि हो जाती है। उनका ज्ञान बढ़ जाता है। स्त्रियों की कई बीमारियां विशेषतया हिस्टीरिया आदि, गर्भ-धारण करने के पश्चात् कम हो जाती हैं, तथा कुछ बीमारियां जो उन्हें गर्भवती होने की दशा में रहती हैं, सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् दूर हो जाती हैं। अन्य प्रकार से समान अवस्था की दो स्त्रियों में जिन में एक माता बन रही हो, और दूसरी ऐसी न हो, बहुधा विलक्षण अन्तर देखने में आता है। मालूम होता है कि प्रकृति ने स्त्रियों को मातृत्व के महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए यथेष्ट अनुकूलताएं प्रदान की हैं।

बालकों में अपराध प्रवृत्ति—बालकों के विषय के विशेषज्ञों का मत है कि अप राध करने की जैसी प्रवृत्ति आदिम असभ्य लोगों में होती है, लगभग वैसी सभी बच्चों में होगी, अगर नैतिक शिक्षण या अच्छे उदाहरणों का उन पर प्रभाव न पड़े। परन्तु इसका यह आशय नहीं कि सब बच्चे बड़े होकर अपराधी ही बनेंगे। फिर तो सभी आदमी अपराधी हुआ करें। बात यह है कि बच्चों के वयस्क अर्थात् बालिग होते ही, उन में से बहुत से ठीक हो जाते हैं। नैतिक भावना की जो कमी कुछ बालिगों में होती है, वह बच्चों में सब में होती है। बच्चों में प्रायः धूम मचाना, बदला लेने की इच्छा करना, क्रोध करना, स्वभावतः होता है। वे प्रारम्भिक वर्षों में नैतिक-ज्ञान शून्य-होते हैं। उन के लिये अच्छा या बुरा वही है, जिस की माता पिता आदि अनुमति देते

निषेध करते हैं। स्वतंत्र निर्णय करने में वे असमर्थ होते हैं। उन में प्रायः सुस्ती, प्रेम की कमी, या अस्थिरता और वाक्-चपलता बहुत होती है।

आयु का विचार—स्थान भेद से कुछ अन्तर होते हुए, अधिकतर अपराध प्रायः १४ और २२ वर्ष के बीच की आयु में किये जाते हैं। हर एक आयु के कुछ ख़ास ख़ास अपराध होते हैं। बचपन और बालिग़ अवस्था के बीच की उम्र में नियम भंग करने की प्रवृति स्वाभाविक होती है, उसे अपरिपक्व मन वाले मर्दानगी का लक्षण माना करते हैं। उदाहरण-स्वरूप, अमरीका के सम्बन्ध में सन् १९३३ ई० के आरम्भ में प्रकाशित हुआ था कि एक तालाब में स्नान करने से मना करने पर एक अध्यापक के १५ वर्ष के पुत्र ने पुलिस के सिपाही को मार डाला। एक व्यापारी के लड़के को उसकी सौतेली मां की मां ने अपनी मोटर पर चढ़ कर गिरजाघर के नाच में जाने से मना किया; उस सोलह वर्षीय लड़के ने अपनी उस नानी को मार डाला। एक अच्छे कुटुम्ब के १७ वर्ष के लड़के ने केवल तमाशे के ख्याल से १ आदमी, २ लड़कियों और ५ मेक्सीकन लोगों को गोली से मार डाला। इन बालकों की अनेक संस्थाएं उन्हें अपराध करने में सहायता देती हैं। अमरीका की एक संस्था ने पता लगाया है कि डकैती के अपराध में गिरफ्तार लोगों में से पांचवां हिस्सा २० वर्ष से कम के बालकों का है। चोरी के अपराध में

गिरफ़्तार हुए व्यक्तियों में से एक-तिहाई २० वर्ष की अवस्था तक नहीं पहुंचे हैं। मोटर चुराने के कारण गिरफ्तार किये गये लोगों में से ३,०६६ बीस वर्ष से कम के हैं। लगभग ५०० अपराध १५ वर्ष से कम के बालक बालिकाओं द्वारा किये गये हैं। एक १५ वर्ष के बालक पर ५० अपराध करने का दोष लगाया गया है। एक अठारह वर्ष के लड़के पर २४ गेस-स्टेशनों पर डाके डालने का अपराध था। इसी प्रकार बहुत से युवक दवाइयों की दुकानों पर पहुँच कर मालिक को बेहोश करते, और रुपया लेकर चल देते हैं।

मानसिक स्थिति—संसार में बहुत से, अपराध मनुष्यों की मानसिक स्थिति और भावुकता या स्वार्थ-भाव आदि के कारण भी होते हैं। किसी आदमी को चाहे जितने भौतिक साधन प्राप्त हों, फिर भी उसके मन में तरह तरह की चिन्ताएं हो सकती है। संसार की सब बातें हमारी इच्छा के अनुसार नहीं हुआ करतीं। कभी किसी का वियोग होगा, कभी किसी कार्य में विफलता भी मिलेगी। ऐसे अवसरों पर बहुत गम्भीरता, शान्ति और संयम रखने की आवश्यकता है। परन्तु जब ऐसा न हो, क्षोभ, निराशा आदि मन में घर करलें तो अनेक अपराधों की सृष्टि होना स्वाभाविक ही है।

आत्म-हत्या—उदाहरणवत् हम विचार करें कि एक विद्यार्थी परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाता है, घर वाले और इष्ट बन्धु उसे समझाते हैं कि कुछ चिन्ता की बात नहीं, घर में धन की

कमी नहीं, ऐसी बात नहीं कि परीक्षा में पास होता तो नौकरी करके अपना तथा और किसी का भरण-पोषण करता। इस पर भी विद्यार्थी चिन्ता और निराशा के वेग को रोकने में असमर्थ है, और रेल की पटरी या कुए को अपना आश्रय-स्थान बना कर 'आत्म-हत्या' के अपराध का भागी बनता है।

कुछ नवयुवकों की ही बात नहीं है। प्रौढ़ आयु वाले कई धन-कुबेरों द्वारा, समय समय पर की जाने वाली आत्म-हत्या के समाचार पाठकों से छिपे नहीं हैं। उन्हें वह सब सुख साधन उपलब्ध थे, जो रुपये पैसे से प्राप्त हों। परन्तु फिर भी किसी मानसिक क्षोभ के कारण वे अपने प्राण-पखेरुओं को इस संसार में न रख सके।

एक व्यक्ति का पुत्र चल बसता है, अथवा वह अपने अभीष्ठ स्त्री या पुरुष का प्रेम प्राप्त करने में सफल नहीं होता, दो स्त्रियों की आपस में लड़ाई होती है, या एक स्त्री का किसी बात पर अपने पति से बिगाड़ हो जाता है, या वह बस्ती में अपने चरित्र की निन्दा सुनती है, बस, आत्म-हत्या के दृश्य उपस्थित होने को आशंका हो जाती है। भारतवर्ष में स्त्रियों की आत्म-हत्या की संख्या पुरुषों की संख्या से चौगुनी है। (इस का कारण भावुकता के अतिरिक्त सामाजिक और पारिवारिक कुरीतियां हैं।)

ये लोग अपने प्राणों का, तथा अपने इष्ट बन्धुओं का मोह एक-दम छोड़ कर अपनी ऐहिक लीला का ऐसा अन्त करने को उद्यत क्यों हो जाते हैं? बात यह होती है कि ये निर्बल

मस्तिष्क वाले होते हैं। इन में संतोष, धैर्य, सहिष्णुता की कमी रहती है। प्रतिकूल परिस्थिति में अपने आप को संभाल नहीं सकते, और संसार-सागर में तैरते रहने में असमर्थ हो जाते हैं।

मस्तिष्क की अत्यधिक थकावट से विक्षिप्त होकर भी आदमियों के आत्म-हत्या करने के उदाहरण समय समय पर मिलते हैं।

निकटस्थ आत्मीयों की हत्या—चिन्ता और निराशा की स्थिति में आत्म-हत्या की जाने की बात ऊपर कही जा चुकी है। ऐसी स्थिति में आदमी अपने निकटस्थ आत्मीयों की भी हत्या कर डालता है। उदाहरणवत् जब पिता (या माता) यह सोचता है कि मैं बच्चों का पालन पोषण नहीं कर सकता, उन्हें भूख का अत्यन्त कष्ट सहते हुए धीरे धीरे बड़ी व्याकुलता में प्राण विसर्जन करने होंगे, तो बच्चों के कष्ट देखने में असमर्थ होने से वह अपने मरने से पूर्व उन को इस कष्ट से सदैव के लिये मुक्त करने को कटिबद्ध हो जाता है।

एक उदाहरण—'प्रताप' का निम्न-लिखित उद्धरण विचारणीय है :—"बम्बई में एक रामराव नाम का आदमी था। वह बेचारा लगातार रोटियों की तलाश में इधर उधर मारा मारा फिरता रहा। लेकिन बेकारी भला उसकी दाल कैसे गलने देती ? भूख ने तो मानों रामराव की और उसके कुटुम्बियों की बलि लेने का निश्चय कर लिया था। जब बेचारा ग़रीब अपनी कोशिशें

करके हार गया, और, कहीं उसका ठिकाना न लगा तब एक दिन उसने अपनी १४ और ११ वर्ष की दो लड़कियों को अपने हाथ से जहर खिला कर मार डाला, और खुद भी एक शस्त्र से अपनी हत्या करके, बेकारी के दुःख-समुद्र के उस पार चला गया।"

इन पंक्तियों पर कुछ टीका करने की आवश्यकता नहीं मालूम होती। ये प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के हृदय को दहलाने वाली है। ऐसे अवसर पर यह कहना निरर्थक है कि 'बच्चों की हत्या तथा आत्म-हत्या करने वाला बड़ा पापी था, वह नरक को जायगा।' निस्सन्देह उसके कष्टों को कानून बनाने वाले, राजनीति-शास्त्र के विद्वान, वकील और जज आदि क्या समझ सकते हैं, जिन्हें खाने पहनने को काफ़ी से ज़्यादह मिलता है और जिनकी मज़े से गुजर रही है। उस 'हत्यारे' की वेदना का अनुमान वे ही कर सकेंगे, जिन्हें दुर्भाग्य से उसकी स्थिति में पड़ने का मौका मिला हो।

दूसरा उदाहरण—उपर्युक्त पत्र की आगे की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं :—

"अभी इस खबर के कुछ ही दिन पहले समाचार आया था कि एक मां ने अपने दो बच्चों को, भूख से तड़पते देख कर उन्हें मार डाला, और खुद भी आत्म-हत्या करने पर उद्यत होगयी; इसी बीच में वह पकड़ ली गयी और फिर बाद में कानून का तांडव-नृत्य प्रारम्भ हुआ।"

सम्भवतः कानूनदां आदमी उस स्त्री को अपराधी, और दंड के योग्य समझेंगे। परन्तु विचारणीय विषय यह है कि जो बेचारी स्वयं काफ़ी से ज़्यादह दंडित हो चुकी है, वह दंड की पात्र है, या सहानुभूति की। उसे दंड देने की बात उठाना स्वयं क्रूरता का भी उपहास करना है।

अन्य अपराध—मानसिक विकार से होने वाली आत्म-हत्या तथा निकटस्थ आत्मीयों की हत्या का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। क्रोध ईर्षा, द्वेष, बदला लेने का भाव आदि सब मानसिक विकार के ही विविध रूप है, और इनके कारण मनुष्य तरह तरह के अपराध करते देखे जाते हैं। एक आदमी ने जान-बूझ कर, या बिना सोचे-समझे हमें कुछ हानि पहुंचायी। हमें क्रोध आ जाता है, हम आगे पीछे का कुछ विचार नहीं करते, किस कारण से, अथवा कितनी वास्तविक हानि हुई है, यह नहीं सोचते, और तुरन्त उस आदमी को, जैसा मन में आया बुरा-भला कहने या मारने पीटने, अथवा उसकी हत्या तक करने पर उतारू हो जाते हैं। हम उस समय आपे में नहीं रहते। सम्भव है, कुछ समय पीछे हमें स्वयं अपने किये का अत्यन्त दुख भी हो, पर जो तीर हाथ से निकल जाता है, वह फिर लौट नहीं सकता।

सोहन और मोती एक ही नगर के निवासी हैं, और एक ही जाति के हैं। यद्यपि सोहन को खाने पीने की कुछ कमी नहीं है,

पर मोती के पास मकान जायदाद बाग बगीचा बहुत है, और शायद वह सोहन को तुच्छ समझता है। बस, सोहन मन ही मन उस से जलने लगता है, वह यही सोचता है कि उस के पास इतनी धन दौलत और मेरी यह हीनावस्था! मैं भी उतनी ही, या उस से भी अधिक जमीन जायदाद आदि का मालिक क्यों नहीं। वह मोती को छल कपट आदि द्वारा, हानि पहुंचाने का यत्न करता है, उस के घर आदि में आग लगाने या लगवाने की बात सोचता है, अथवा मौका पाकर वह मोती के बाल बच्चों को या स्वयं मोती को कुछ कष्ट देना चाहता है। उसके इन कुकृत्यों का आधार बहुत कुछ उसकी ईर्षा है।

एक आदमी दूसरे से किसी विषय की प्रतियोगिता में, या मुकद्दमेबाजी आदि में हार जाने से मन में बहुत दुखी होता है। वह सोचता है किस प्रकार मैं अपने प्रतिपक्षी को नीचा दिखाऊं और सर्वसाधारण में अपनी पूर्ववत प्रतिष्ठा स्थापित करूं। वह उचितानुचित का विचार नहीं करता और निन्द्य उपायों को काम में लाने से नहीं डरता। उसके 'अपराधों' का कारण भी मानसिक ही है; यदि वह शान्ति से विचार करे तो प्राय: उसे अपने उस व्यवहार के लिये यथेष्ट कारण प्रतीत नहीं होगा।

स्वार्थ-प्रवृति और अपराध—मानसिक स्थिति के प्रसंग में मनुष्य की स्वार्थ-प्रवृत्ति का भी कुछ विचार कर लेना

आवश्यक है। मनुष्यों में (एवं अन्य प्राणियों में) दो भावनाएं आरम्भ से ही बड़ी प्रबल होती हैं, (१) अपने आप को जीवित रखना और इसके लिए अपना भरण पोषण करना, तथा (२) अपने परिवार या वंश की बृद्धि करना। इन इच्छाओं की पूर्ति के लिये उसे मिल जुल कर समाज में रहने की आवश्यकता होती है, परन्तु सामाजिक जीवन व्यतीत करते हुए, मनुष्य स्वेच्छाचारी नहीं रह सकता। उसे बहुत से बन्धन मान्य करने पड़ते हैं, उसे अपने कार्यों को ऐसी सीमा के भीतर रखना होता है, कि दूसरों के हित या उचित स्वार्थों में बाधा न पहुंचे। इसके अतिरिक्त, उसे समाज की रक्षा और उन्नति में यथेष्ठ सहयोग करना होता है।

इस प्रकार मनुष्य की दो प्रारम्भिक भावनाओं में समाज-रक्षा की भावना की वृद्धि और हो जाती है। यह तीसरी भावना थोड़े समय की और कम विकसित होती है; बहुधा मनुष्यों में यह उक्त दो भावनाओं की अपेक्षा बहुत निर्बल रहती है। यद्यपि समाज-रक्षा का भी मूल आधार मनुष्य का स्वार्थ ही है तथापि साधारण मनुष्य उस ओर उतना ध्यान नहीं देता जितना प्रत्यक्ष और निकटवर्ती स्थार्थों की सिद्धि की ओर देता है। बहुधा उसके (निकटवर्ती) स्वार्थों का, और समाज-रक्षा की भावना का संघर्ष हो जाता है। जब इस संघर्ष में स्वार्थों की विजय हो जाती है तो वह विजय किसी न किसी अपराध के रूप में दृष्टि-गोचर होती है। अपराध-विषयक कानून या दंड, समाज-रक्षा की

भावना को हमारे निकट स्वार्थ का रूप प्रदान करने का प्रयत्न करता है क्यों कि कानून द्वारा निर्धारित दंड से बचने में हमारा स्वार्थ प्रत्यक्ष है। परन्तु यह कानून या दंड कितना कम सफल होता है, इस का विचार पहले किया जा चुका है।

अस्वस्थता और अपराध—हम यह बता चुके हैं कि शारीरिक और मानसिक स्थिति मनुष्य को कैसे कैसे अपराध करने में प्रवृत्त करती है। इस सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि अस्वस्थता का अपराधों से कहां तक सम्बन्ध है। यह तो स्पष्ट ही है कि जिनका मन और शरीर दोनों स्वस्थ हैं, वे साधारणतः अपराध कम करेंगे। एक पाश्चात्य विद्वान का कथन है कि पता लगाने पर मालूम हुआ है कि साधारण आदमियों की अपेक्षा दुबले पतले आदमी ही अधिक आत्म-हत्या किया करते हैं, परन्तु इन से भी अधिक संख्या में आत्म-हत्या करने वाले होते हैं, मोटे आदमी। अस्तु, साधारणतया, स्वस्थ लोगों में अपेक्षाकृत बहुत थोड़े ही ऐसे होते हैं जो आत्मघात द्वारा प्राण-विसर्जन करते हों। यही बात अन्य अपराधों के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

नागरिकों को चाहिये कि अपराध प्रवृत्ति को बढ़ाने वाले, शारीरिक और मानसिक विकारों के उत्पादक, मादक तथा उत्तेजक पदार्थों का सेवन न किया करें, चाहे वे सामाजिक रीति-रिवाज के अनुसार कुछ आवश्यक ही क्यों न माने जाते हों।

हमारा खान-पान शुद्ध और सात्विक पदार्थों का होना चाहिए जिससे आलस्य, नशा और चंचलता आदि न हो, तथा शरीर और मन के सुसंचालन एवम् पुष्टि में समुचित योग मिले, और हम स्वस्थ नागरिक बनें।

चौथा परिच्छेद

—:o:—

प्राकृतिक परिस्थिति

अनेक अपराध मनुष्यों के आचार विचार के परिणाम-स्वरूप होते हैं, और मनुष्यों के आचार विचार पर खासा प्रभाव प्राकृतिक स्थिति का, सर्दी गर्मी आदि का, पड़ता है। यह सत्य है कि ज्यों ज्यों मनुष्य उन्नति करता है, सभ्यता की वृद्धि होती है, त्यों त्यों वह अपनी वैज्ञानिक तथा आत्मिक उन्नति से प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त करता है। इस के अतिरिक्त, प्राकृतिक स्थिति का मनुष्यों के कार्यों या अपराधों पर पड़ने वाला प्रभाव बहुधा प्रत्यक्ष रूप से दिखाई नहीं देता। तथापि अनेक लोगों का मत है कि वह प्रभाव थोड़ा बहुत पड़ता जरूर है।

सर्दी गर्मी और अपराध—खास खास ऋतुओं में, कुछ देशों में विशेष प्रकार के अपराधों की वृद्धि होने का प्रायः अनुभव होता है। उदाहरणार्थ शीत-प्रधान देशों में, सर्दी की मौसम में अनेक निर्धन व्यक्ति यथेष्ठ वस्त्र कोयला, चाय या शराब प्राप्त करने में सफल न होने के कारण चोरी के अपराध अधिक

करते हैं और, अत्याधिक गर्मी होने पर मृगी के दौरे, चंचलता, दुराचार, हिन्सक उपद्रवों की वृद्धि होती है। इसी प्रकार जल वायु के आकस्मिक परिवर्तन से भी मनुष्यों की निहित या गुप्त अपराध-प्रवृत्ति को जागृत या चैतन्य होने की प्रेरणा मिलती है, और, वे अपराध-मूलक कार्य करने लगते हैं।

प्राकृतिक अवस्था और आत्म-हत्या—अन्यान्य अपराधों में आत्म-हत्या पर भी प्राकृतिक अवस्था का बड़ा प्रभाव पड़ता है। परन्तु इस सम्बन्ध की व्यौरेवार बातों में विचारकों के भिन्न भिन्न मत हैं। श्री० डाक्टर रविप्रतापसिंह जी श्रीनेत ने लिखा है 'कि किसी खास जलवायु, गर्मी की ऋतु तथा कटिबन्ध से भी इस रोग का विशेष सम्बन्ध है। उष्ण तथा आर्द्र जलवायु, गर्मी की ऋतु तथा उष्ण और शीतोष्ण कटिबन्धों में यह रोग अधिकतर पाया जाता है। इस का खास कारण यही है कि इन परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्ति प्रायः भावुक, आवेशपूर्ण तथा उन्मादी होते हैं। इस के सिवा मास के शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा की शान्ति-मूलक रश्मियों में एक प्रकार की उन्मादी शक्ति होती है, जो आत्म-घात के जीवाणुओं में शक्ति संचार कर उन्हें उन्मादी बना देती है। अकसर देखा जाता है कि शुक्ल पक्ष की ज्योत्सना ही दो प्रेमियों को प्रेम-मद से उन्मादित कर, विक्षिप्त और कभी कभी तो पागल ही बना देती है।'*

* 'जागरण' के आधार पर।

एक पाश्चात्य विद्वान को, जांच से पता चला है कि सब से अधिक आत्म-हत्याएं वसन्त ऋतु में, और सब से कम, शीत काल में होती हैं। कई वर्षों के आंकड़ों की तुलना करने पर सब से बढ़ कर विचित्र बात यह मालूम हुई है कि सब से अधिक आत्म-हत्याएं होती हैं जून की ११ तारीख को, और मंगलवार ही प्रायः सब से बढ़ कर घातक दिन है। पाश्चात्य देशों में आत्म-हत्याएं विशेषतः ऐसे समय होती है जब वर्षा होती है।

देश काल के अनुसार भिन्न भिन्न जिज्ञासुओं के अनुभव में अन्तर होना स्वाभाविक है। और, कोई सर्वमान्य तथा सर्व-व्यापी सिद्धान्त स्थिर करना कठिन है।

प्राकृतिक स्थिति और सभ्यता—सभ्यता के कारण मनुष्यों की अपराध-प्रवृत्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका विचार आगे किया जायगा। यद्यपि जैसा कि हमने पहले कहा है, सभ्यता की वृद्धि के साथ मनुष्यों में प्राकृतिक स्थिति को नियंत्रित करने की क्षमता बढ़ती जाती है, तथापि स्वयं सभ्यता की उत्पत्ति या वृद्धि में प्राकृतिक कारणों का खासा भाग रहता है। महाशय बक्ल का सिद्धान्त है कि सभ्यता की उत्पत्ति के मुख्य कारण जलवायु, भूमि, भोजन तथा प्राकृतिक स्थितियां ही हैं। इन में से जहां प्रथम तीन पूंजी की वृद्धि तथा विभाग द्वारा समाज को उन्नत करते हैं, वहां चतुर्थ से विचार की वृद्धि द्वारा समाज की उन्नति होती है। भयानक, अदम्य तथा क्रूर प्राकृतिक

परिस्थिति मनुष्य की कल्पना शक्ति को बढ़ाती है, और मधुर तथा शान्त प्राकृतिक परिस्थिति विचार शक्ति को।❀

प्रो० वक्ल के सिद्धान्त की भिन्न भिन्न लेखकों ने आलोचना की है, उसका बहुत-कुछ खंडन किया गया है, तथापि उस में कुछ सार-भूत सच्चाई है। प्राकृतिक स्थिति का मनुष्यों के स्वास्थ, रहन-सहन, सभ्यता और विचारों पर एक सीमा तक प्रभाव पड़ता है, जिन के कारण वह कुछ विशेष प्रकार के कार्य तथा अपराध करने को प्रेरित हो सकता है। हां, यह प्रभाव कितना या कहां तक पड़ता है, इस विषय में पर्याप्त मत भेद है। पहले यह प्रभाव बहुत अधिक माना जाता था, अब उसे विशेष महत्व नहीं दिया जाता। तथापि विचारणीय होने से उस का यहां उल्लेख किया गया।

———

❀ 'सभ्यता के इतिहास' के आधार पर।

पांचवां परिच्छेद

—:o:—

आर्थिक परिस्थिति

'चोर पर ही चोरी करने की सारी जिम्मेदारी नहीं है। उस की गरीबी, उसकी शिक्षा-दीक्षा, उसके वातावरण और उसके चरित्र पर भी उस अपराध की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है।'

—आदित्य चरण सुकुल

'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्' कहावत में अपराध शास्त्र की एक बहुत अर्थ-पूर्ण सच्चाई है। वास्तव में मनुष्यों को प्रायः रोटी कपड़े आदि की चिन्ता प्रधान रूप से रहती है। इस की प्राप्ति के लिये वे बहुधा दिन रात परेशान रहते हैं। जब तक यह समस्या हल नहीं होती, उनका किसी अन्य विषय में मन नहीं लगता, उन में किसी कार्य को करने की शक्ति या स्फुर्ति नहीं होती। उन के द्वारा नाना प्रकार के अपराध हो जाना स्वाभाविक है।

चोरी लूट मार आदि—एक आदमी दिन भर मेहनत मजदूरी करके भी जब अपना और अपने परिवार का पालन

नहीं कर सकता, और उसके स्वयं भूखा रहने तथा बाल-बच्चों को जठराग्नि की ज्वाला से व्याकुल देखने का अवसर आता है तब यदि वह अत्यन्त ही निराश न हो गया हो (जिस अवस्था का विचार पहले किया जा चुका है।), तो उसके लिये भित्ता या चोरी का मार्ग खुला मालूम होता है। ऐसे व्यक्तियों में से, जो आदमी स्वभाव से या कानून-वश भित्ता नहीं मांग सकता, या जिसे भित्ता नहीं मिल सकती, वह चोरी का अवलम्बन करे तो क्या आश्चर्य है।

चोरी करने वाले को लूट मार करने वाला बनने के लिए विशेष मार्ग तय करना नहीं पड़ता; कभी कभी तो उसके संगी साथी ही उसे यह पाठ पढ़ा देते हैं। इस प्रकार आर्थिक परिस्थिति अनुकूल न होने की दशा में एक से एक अधिक भयंकर और घातक चोरी तथा लूट मार की घटनाएं होती रहती हैं।

धोखेबाजी—बहुत से आदमी अपने जीवन-निर्वाह की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर धोखेबाजी भी करते हैं, और, इसके लिए आज कल नित्य नये ढंग निकलते जाते हैं। कोई जाली दस्तखत करके दूसरे का द्रव्य-हरण करना चाहता है, कोई व्यापारी के रूप में किसी तरह बाजार में एक बार अपनी प्रतिष्ठा जमा लेने पर, बहुत सा माल उधार लेकर वहां से चम्पत हो जाता है। कोई अपने एक नाम से चलने वाले कारोबार में दीवाला

निकाल कर, झट दूसरे और पीछे क्रमशः तीसरे और चौथे नाम से काम करते सुने गए हैं। अस्तु, कहां तक गिनाया जाय, धोखे-बाजियों के विविध स्वरूपों का कुछ अन्त नहीं है।

रिश्वतखोरी—रिश्वतखोरी का अपराध उन्हीं लोगों तक परिमित रहता है, जिन्हें कुछ कुछ सत्ता और 'अधिकार' प्राप्त हो। यह बात नहीं है कि बड़ी बड़ी तनख्वाहें और भत्ता आदि पाने वाले, रिश्वत स्वीकार नहीं करते—वह तो कभी कभी बड़ी बड़ी थैलियां हजम कर जाते हैं, और आज कल तो नोटों का प्रचार होने से उनका कार्य और भी सुगम हो गया है। परन्तु इस परिच्छेद में हमें उन छोटे आदमियों की ही बात कहनी है, जिन्हें 'ऊपर की आमदनी' बिना अपना तथा अपने परिवार का पालन करना कठिन होता है। बहुधा राज्यों में भारी भारी जिम्मेवारी वाले अनेक पदों के लिए छोटी छोटी तनख्वाहें दी जाती है। इन पदों के लिए आकर्षण उन का वेतन नहीं होता, वरन् उन पदों पर रहते हुए ली जा सकने वाली रिश्वत होती हैं। इस सम्बन्ध में यह कहावत बड़ी अर्थ-पूर्ण है, "छः के चार करदे, पर नाम दारोगा धर दे।"

विचारणीय बात—एक विद्वान का मत है कि साधारणतया बाजार में जितने परिमाण में खाने पीने की चीजों का दाम चढ़ता है, उसी परिमाण में जेलों में कैदियों की संख्या भी बढ़ जाती है। इस कथन में कुछ सच्चाई अवश्य है। परन्तु, यह

अक्षरशः सत्य नहीं है; अपराधों की वृद्धि ऐसे समय में भी हो सकती है, और होती है जब कि पदार्थों का भाव अपेक्षाकृत उतरा हुआ होता है। मानलो इस वर्ष पहले की अपेक्षा अब खाद्य पदार्थों की कीमत आधी रह गयी है, परन्तु इसके साथ ही हमारी क्रय-शक्ति आधे से भी कम हो गयी, तो हमें पहले की अपेक्षा कुछ सुविधा न होगी। अतः यह कहना अधिक सार्थक होगा कि जिस परिमाण में लोगों की खाने-पीने की वस्तुओं को खरीदने की शक्ति कम हो जाती है; प्रायः उसी परिमाण में अपराधों की संख्या बढ़ने लगती है।

ऋण सम्बन्धी मामले—प्रत्येक देश के अपराधों में ऋण सम्बन्धी मामलों की खासी संख्या रहती है। ऋण के मुख्यतया दो उद्देश्य होते हैं:—(१) पूंजी संग्रह करके कोई बड़ा कल कारखाना या उद्योग धन्धा अथवा व्यापार चलाना; (२) अपने निर्वाह के लिये विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करना।* क्यों कि अधिकतर अपराध दूसरे उद्देश्य से लिये हुए ऋण के सम्बन्ध में होते हैं, और सर्व साधारण का सम्बन्ध भी इसी से होता है; इस लिये इसका ही विचार किया जाता है।

साधारण स्थिति के आदमी जब ऋण लेते हैं तो प्रायः

---

* विवाह शादी या अन्य समाजिक रीति रिवाज के लिये भी ऋण लिया जाता है, इस के सम्बन्ध में अगले परिच्छेद में विचार किया जायगा।

उन्हें यह आशा होती है कि वे भविष्य में अपनी कमाई में से उसे क्रमशः चुका देंगे। इन की आर्थिक अवस्था अच्छी तो होती नहीं। यदि ऋण का सूद खूब ज्यादह हो, और संयोग से इन की खेती आदि मारी जाय तो इन्हें उस ऋण से छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। अनेक दशाओं में तो ये लोग अपना पेट भरने लायक भी नहीं होते। ऐसे आदमियों पर ऋण के मुकद्दमे चलाना, और जब उन के पास से कुछ वसूल न हो सके तो उन्हें जेल भेजना कहां तक उचित है, यह विचारणीय है। वे बेचारे वैसे ही मरे-मराए हैं, फिर, उन्हें ऋण न चुका सकने की दशा में बेईमान तथा अपराधी कह कर बदनाम करना वास्तव में जले पर नमक छिड़कने के समान है। निस्सन्देह वे अनेक 'बड़े' कहे जाने और माने जाने वाले उन लोगों से अधिक ईमानदार, सच्चे और परिश्रमी हैं, जो बैठे बैठे चालाकी या होशयारी से, 'सभ्य' माने जाने वाले उपायों से धनवान बन गए हैं।

इस सम्बन्ध में एक सुप्रसिद्ध अंगरेज न्यायाधीश सर एडवर्ड पेरी के विचार मनन करने योग्य हैं। आप चौंतीस वर्ष तक जज रहे थे, इस से आप के अनुभव की गहराई का अनुमान हो सकता है। आप का कथन है कि "दीवानी या माल सम्बन्धी हमारे कानून को देखो तो मालूम होगा कि उस से बढ़ कर कोई बुराई और बर्बर कानूनी पद्धति न होगी, जिसके द्वारा हम जेलों का भय दिखा कर गरीबों से धन चूसते हैं।......ऋण के लिए

जेल का दंड देना, न केवल दासता का चिन्ह है, वरन् वास्तविक रूप में यह दासता इस समय प्रचलित है, जिस के द्वारा उस समाज का पतन हो रहा है, जिसने वैसे कानून की आज्ञा दी है।...... यदि महाजन को अपना ऋण वापिस नहीं मिलता तो फिर उस का उद्देश्य हो जाता है, बदला लेना। जो लोग कुछ धनी या अच्छी हालत में हैं, उन्हें ऋण के लिए कारावास दंड नहीं भुगतना पड़ता, क्योंकि दिवालिया अदालत से मित्रता-पूर्वक बात-चीत करने से झगड़ा तय हो जाता है। पर जो अत्यन्त गरीब और दरिद्र हैं, उन्हीं के लिए यह दंड भी है। ....ऋण के लिए कारावास दंड देना कानूनी डकैती और धोखा है।"

आर्थिक विषमता—आज कल होने वाले बहुत से अपराध 'आर्थिक' श्रेणी में आ सकते हैं। उन का दायित्व वर्तमान आर्थिक विषमता पर है। एक ओर एक लखपति या करोड़पति है, अथवा बड़ा जमींदार है, जो अपने राज-भवन में सब तरह के सुख साधनों का उपभोग करता है, और दूसरी ओर सैकड़ों हजारों निर्धन असहाय व्यक्ति हैं, जिन्हें दिन रात मेहनत करने, धूप और वर्षा, सर्दी और गर्मी सहते रहने पर भी अपना और अपने बाल-बच्चों का पेट भरने का सौभाग्य नहीं प्राप्त होता। महलों के साथ झोपड़ियों का निर्वाह कैसे हो! धनवानों के साथ कंगालों की गुजर किस तरह हो! दोनों के संसर्ग से होने वाली स्थिति बहुत चिन्तनीय है। इस प्रसंग में अमरीका के सुविख्यात

वकील और लेखक श्री० क्लेरेन्स डेरो के कुछ विचारों का सारांश नीचे दिया जाता है।

अगर कुछ पशुओं को किसी ऐसे बाड़े में बन्द कर दिया जाय, जहां चरने को काफी घास न हो, तो वे पशु उछल-कूद मचाएंगे, और दीवार को फांद कर बाहर निकलना चाहेंगे। मनुष्य रूपी पशु भी दूसरे पशुओं के समान ही है, केवल यह उछल-कूद कुछ ज्यादह मचाता है।......जिन लोगों के पास जमीन जायदाद होती है, वे ही कानून रचना करते हैं, जिससे वे अपनी सम्पति की रक्षा कर सकें। वे अपनी जायदाद के चारों तरफ कानून का एक बाड़ा या घेरा सा बना देते हैं, जिससे और लोग उस में दखल न दे सकें। अगर कानून बनाने का अधिकार हमारे तुम्हारे हाथों में होता तो हम सब से पहले उन्हीं लोगों को दंड देते जो तमाम जमीन जायदाद के मालिक बन बैठे हैं। प्रकृति ने अनाज, रूई, लकड़ी, पत्थर वगैरह चीजें सब के लिए पैदा की हैं, पर ये थोड़े से लोग सब को वंचित करते हैं। जिन उपायों से बड़े लोग रुपया कमाते हैं, उन को उन्हों ने कानून के मुताबिक ठहरा दिया है, और जिन उपायों से जेल में रहने वाले गरीब लोग रुपया कमाते हैं, उन को कानून के खिलाफ।

कुछ लोग पैसा होते हुए भी चोरी आदि करते हैं, वे दूरदर्शी हैं। वे उस समय तक ठहरना पसन्द नहीं करते, जब उन के पास कुछ न रहे।......जिस प्रकार अमीरों ने गरीबों को लूटने के लिए नये नये ढंग की कम्पनियों और कारखानों की सृष्टि की,

उसी प्रकार गरीब आदमी बच्चे चुराने आदि के नये नये ढंग के पेशे तलाश करने लगे।

उक्त विद्वान की सम्मति है, और, यह कुछ अंश में ठीक भी है कि जुर्मों को मिटाने का उपाय यही है कि बड़े लोगों के विशेष अधिकार को नष्ट कर दिया जाय, जिससे सर्व साधारण को जीवन-निर्वाह का मौका मिल सके; अमीरों और गरीबों का भेद भाव मिटा दिया जाय।

विशेष वक्तव्य—समाज में रहने वाले प्रत्येक मनुष्य को धन की आवश्यकता होती है। भोजन, वस्त्र, मकान आदि विविध शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति धन के बिना नहीं हो सकती। और, जब इन बातों के लिए लोगों को समुचित द्रव्य नहीं मिलता तो उन में से बहुत से अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए नीति और संयम का उलंघन करने को विवश हो जाते हैं। वे भिक्षा, चोरी, धोखेबाजी या रिश्वत आदि किसी भी कृत्य के करने से संकोच नहीं करते। हम यह भूलते नहीं हैं कि अनेक आदमी निर्धन होते हुए भी इतना शुद्ध, सात्विक और ईमानदारी का व्यवहार करते हैं कि अच्छे अच्छे धनवानों से उनकी तुलना की जा सकती है। यहां तक कहा जा सकता है कि कितने ही स्थानों में निर्धन (और अशिक्षित) आदमी अधिक संयम और संतोष का परिचय देते हैं। परन्तु, विचार करने पर मालूम होगा कि इस का कारण उनकी संस्कृति या आचार

विचार है। अन्यथा, साधारण स्थिति में तो, पूर्वोक्त कथन ही सत्य है। मनुष्य पर साधारणतया उसकी आर्थिक आवश्यकता का प्रभाव अवश्य पड़ता है, किसी विशेष कारण से वह प्रभाव दब जाय, या नष्ट भी हो जाय, तो यह दूसरी बात है; इस से मूल बात में अन्तर नहीं आता।

यह तो हुई, आर्थिक परिस्थिति की प्रतिकूलता के कारण होने वाले प्रत्यक्ष अपराधों की बात ; अब हम इस के परोक्ष प्रभाव का उल्लेख करते हैं।

आर्थिक परिस्थिति का परोक्ष प्रभाव—आर्थिक परिस्थिति की प्रतिकूलता से मनुष्य को भोजन वस्त्र घटिया, अपर्याप्त या अल्प मात्रा में मिलने से वह नाना प्रकार की बीमारियों का भी शिकार हो जाता है, जो स्वयं परोक्ष रूप से उसे अपराधी बनाने में सहायक होती हैं। पुनः निर्धन माता पिता अपने बच्चों की यथेष्ट सार-संभार नहीं रख सकते, उन्हें उचित शिक्षा दीक्षा नहीं दिला सकते, इस से उन की सन्तान के भी अपराधी बनने की सम्भावना अधिक रहती है।

श्री० सी. लोम्बरोजो का कथन है कि अर्थिक हीनावस्था के प्रभाव के विवेचन में प्रायः अत्युक्ति की जाती है। यदि चोर कंगाल हैं, तो इसका कारण उन की सुस्ती और फजूल-खर्ची है, वे बात की बात में बहुत-सा धन उड़ा देते हैं, वे निर्धनता के कारण चोरी करने को वाध्य नहीं हुए। इस के विपरीत धन के स्वामित्व

से अपराध करने में उत्तेजना मिलती है, कारण कि उस से धन की अधिकाधिक क्षुधा सताने लगती है; व्यापार या महाजनी, बैंकिंग आदि के उच्च पदाधिकारियों को बेईमानी करने के अपरिमित अवसर मिलते हैं, और वे सोचते हैं कि धन से हमारे सब दुष्कृत्यों पर आवरण पड़ जायगा।

हम उपर्युक्त विचारों में निहित सच्चाई को एक अंश तक स्वीकार करते हैं, तथापि हमारा अपने देश काल का जो अनुभव है, उस से हम निर्धनता-जनित अपराधों का अनुमान उपर्युक्त लेखक से अधिक करते हैं।

छटा परिच्छेद

—:o:—

सामाजिक परिस्थिति

समाज अपराधों को तैयार करती है। अपराधी उसके यंत्र हैं, जो उन्हें पूरा करते हैं। सामाजिक वातावरण अपराध के उगने का क्षेत्र है। अपराधी एक बीज-जन्तु है जो क्षेत्र पाने पर उग पड़ता है।

—'चान्द'

सामाजिक स्थिति अपराधों का ह्रास करने वाली भी हो सकती है, और उनके लिए पुष्टिकर भोजन का भी काम दे सकती है। 'लोग हमें क्या कहेंगे' यह विचार जहां मनुष्यों को,

समाज की उन्नतावस्था में, बुरे कामों से बचाता है, प्राचीन रूढ़ियों और कुरीतियों के प्रचलित होने की दशा में, इससे आदमी तरह तरह के दुष्कर्म करने में प्रवृत्त होते हैं।

समाज का प्रभाव—ज्यों ज्यों बालक बड़ा होता है, उसकी संगति का क्षेत्र बढ़ता जाता है, वह समाज के व्यापक क्षेत्र में प्रवेश करता जाता है। अधिकांश आदमियों के लिए समाज की परिस्थिति का प्रभाव ऐसा होता है, जैसा अनेक चीज़ों के लिये नमक की खान का। नमक के भंडार में पड़ कर उन चीज़ों के स्वाद विलुप्त हो जाते हैं, और वे नमकीन बन जाती हैं। इसी प्रकार प्रायः समाज से प्रभावित होने पर बहुत से आदमियों का व्यक्तित्व बहुत-कुछ विलुप्त हो जाता है और वे बहुधा बिना जाने समाज के गुण दोषों को ग्रहण कर लेते हैं। अवश्य ही, महान् विभूतियों, महापुरुषों तथा विवेकवान सज्जनों आदि की बात अलग है, वे तो समाज की दशा और गति-विधि में आवश्यकतानुसार संशोधन करने का कार्य किया करते हैं। अस्तु, साधारणतया यह कहा जाता है कि मनुष्य अपने व्यवहार में उन गुणों तथा अवगुणों का परिचय दिया करता है, जिनकी उसे उसके घर वालों तथा समाज से प्रेरणा मिलती है। यदि एक मनुष्य हिन्सक या निर्दयी है, और दूसरा संयमी, दयालु और प्रेमी है तो इस अन्तर का आधार बहुत-कुछ उसका वातावरण होता है। निदान, किसी मनुष्य का भला बुरा होना

एक सीमा तक उस समाज पर निर्भर है, जिसमें वह रहता है। अतः उसके अपराधों का उत्तरदायित्व बहुत कुछ उसके समाज पर आता है। शौकीन, नशेबाज़ और व्यभिचारी समाज में किसी व्यक्ति का संयमी और सतोगुणी रहना दुर्लभ है।

समाज का प्रभाव मनुष्यों पर परोक्ष रूप से ही नहीं पड़ता। कई विषयों में समाज अपने व्यक्तियों पर प्रत्यक्ष और सक्रिय प्रभाव डालता है। इस तरह समाज लोगों के अपराधी होने में (तथा उनके अपराध-निवारण में) प्रकट तथा गौण दोनों प्रकार से भाग लेता है। यह बात कुछ उदाहरणों पर विचार कर से अच्छी तरह स्पष्ट हो जायगी।

धन का आदर, और गुणों की अवहेलना करने वाला समाज—यद्यपि सांसारिक मनुष्यों को धन की सदैव आवश्यकता होती है, और इस लिए धनवान व्यक्ति को कुछ न कुछ आदर सम्मान मिलना स्वाभाविक ही है, तथापि जब समाज में गुणों की अवहेलना करके धन को ही आदर का आधार बना दिया जाता है तो लोगों पर उसका बड़ा अनिष्टकारी प्रभाव पड़ता है। इसीलिए प्राचीन भारत में धनवानों को समाज में आज कल की तरह सर्वोच्च स्थान प्राप्त नहीं था। त्याग-मूर्ति विद्वान ब्राह्मण निर्धन होते हुए भी राज्य और समाज का नियंत्रण करने वाले होते थे। बड़े बड़े राजा महाराजा और

सेठ साहूकार उनके चरणों में बैठने तथा उनका आशीर्वाद प्राप्त करने में अपना परम सौभाग्य मानते थे।

पर आज कल तो प्रायः सर्वत्र ही धन का बोल-बाला है। धनवान व्यक्ति के सामाजिक कार्य, उनके, या उनकी सन्तान आदि के विवाह शादी आदि, सुगमता से हो जाते हैं। यही नहीं, उन्हें समाज में बैठने उठने को अच्छा स्थान मिलता है, हर बात में उनकी पूछ और आवभगत होती है। इसका दुष्परिणाम स्पष्ट ही है। अनेक आदमी कृत्रिम जीवन बिताने वाले हो जाते हैं। वे आडम्बर-प्रिय बन जाते हैं। वे अपनी स्थिति को खूब बढ़ी-चढ़ी दिखाना आवश्यक समझते हैं। माहवारी आय पन्द्रह रुपए की है तो वे पचास रुपए की प्रकट करते हैं। उन्हें अपनी 'ऊपर की आमदनी' की बात कहने में संकोच नहीं होता। अपने तईं अधिक धनवान दिखाने के लिए उन्हें कुछ अनावश्यक खर्च बांध लेने होते हैं। वे कपड़ा बहुत बढ़िया पहिनेंगे, चाहे इस से उन्हें अपने भोजन व्यय में कमी ही क्यों न करनी पड़े। कारण कि भोजन को तो कोई देखने नहीं जाता है, पर कपड़ा तो सब को दिखाई देता है। हां, जब भोजन भी दूसरों के सामने करना हो, तो उस में भी खूब दिखावट करनी होगी, चाहे उससे स्वास्थ-हानि भले ही हो। अनेक आदमियों का पान बीड़ी या चाय आदि का शौक ऐसे ही कारण से होता है। कहीं कहीं आडम्बर-प्रिय आदमी स्वयं जेवर पहनना या अपनी स्त्री और बच्चों को आभूषणों से सज्जित रखना भी अपना अनिवार्य कर्तव्य मानते

हैं; विशेषतया सामाजिक अवसर पर तो उन्हें इसका पर्याप्त से अधिक ध्यान रखना पड़ता है। अगर, अपनी सामर्थ बिल्कुल ही न हो, तो मांगे हुए ही सही, पर आभूषण होना अवश्य चाहिये। उन लोगों को साधारण शारीरिक श्रम करने में भी लज्जा आती है। यदि उन्हें अपना हैंड-बेग भी थोड़ी दूर ले जाना हो तो कुली और मज़दूर के बिना उनका काम नहीं चलेगा। गृहस्थ के मामूली कामों के लिए भी उन्हें नौकर चाहिये। इन बातों से उनका दिवाला निकलना और आर्थिक दृष्टि से उनकी दुर्दशा होना, और इसके फल-स्वरूप उनका विविध अपराध करना अवश्यम्भावी है।

विवाह शादी के अपरिमित व्यय के कारण होने वाले अपराध—कल्पना करो कि एक समाज में विवाह को अनिवार्य सा माना जाता है, तथा एक एक आदमी के, एक के बाद दूसरा, और उसके बाद तीसरा, इस प्रकार कई कई विवाह होने की भी रीति है। बूढ़े बूढ़े आदमी भी विवाह करते हैं। ऐसे समाज में, यदि विवाह में अपरिमित द्रव्य खर्च होता है, तो उन लोगों की कठिनाइयां स्पस्ट हैं, जो धन-हीन हैं। वे सोचते हैं कि अविवाहित रहने से समाज में उन्हें यथेष्ठ आदर की दृष्टि से नहीं देखा जायगा। फिर, काम-लिप्सा का वातावरण भी उन्हें उत्तेजित करता है कि वे अपने कुंवारेपन को दूर करें। पर जब वे अपनी आर्थिक स्थिति को देखते हैं तो उनके सन्मुख बड़ी विकट

समस्या उपस्थित होती है। यदि वे ऋण लेना चाहें तो उनकी, कुछ गिरवी या धरोहर रखने की क्षमता न होने के कारण, प्रथम तो उन्हें ऋण मिलने की सम्भावना ही बहुत कम है। फिर यदि संयोग से ऋण मिल ही गया तो उसे चुकाने का उपाय क्या होगा, विशेषतया उस दशा में जब कि उस ऋण पर ब्याज चढ़ रहा हो, (बिना ब्याज के ऋण मिलना तो प्रायः कठिन ही होता है)। विवाह होने पर गृहस्थ का खर्च बढ़ता ही जायगा, और यदि आमदनी का ढंग ठीक न बैठा तो ऋण-भार हलका होने की कोई आशा ही न होगी। बहुत सम्भव है कि यथा शक्ति अपने ऋण को शीघ्र चुकाने का प्रयत्न करते हुए भी वे इसमें सफल न हों। ऐसी दशा में उनपर नालिश होती है, मुकद्दमा चलता है, और अन्ततः वे अपराधी माने जाकर जेल में भेजे जाते हैं। भला, कैद भुगत लेने से उनका क्या सुधार होगा? क्या वे इससे इतने धनी हो जांयगे कि वे अपना रोज़मर्रा का खर्च भी ईमानदारी से चला सकेंगे और साहूकार का रुपया भी ब्याज सहित अदा कर देंगे? अस्तु, उनके 'अपराधी' होने और 'जेल जाने' का उत्तरदायित्व किस पर है? क्या वह समाज सर्वथा दोष-मुक्त माना जा सकता है, जिसके वातावरण से बाध्य होकर उन्हें इस परिस्थिति में पड़ना पड़ा है?

उपर्युक्त उदाहरण में हमने सामाजिक परिस्थिति-वश एक आदमी के कर्ज लेने, और उसके अदा न कर सकने के कारण अपराधी माने जाने के विषय में विचार किया। अब, मान लो,

वह आदमी रुपया उधार लेने का विचार नहीं करता, परन्तु अन्य उपायों से 'पैसे वाला' बनना चाहता है। उसे कोई और रोजगार नहीं मिलता। वह सोचता है कि जुए, सट्टे, फाटके से, व्यापार में धोखा-धड़ी करने या अन्य छल प्रपञ्चों से, कुछ आदमी जल्दी धनवान बन जाते हैं, क्या आश्चर्य, यदि मेरा भी भाग्य जाग जाय, और मैं भी बात की बात में धनवान हो जाऊं! ऐसी दशा में इस आदमी के, इन मार्गों से पैसा प्राप्त करने, अथवा यदि उसमें असफल रहे तो इसके और भी अधिक तबाह हो जाने का भार क्या समाज पर ही नहीं है?

पुनः यदि ऐसा आदमी कोई ऐसी नौकरी स्वीकार करता है, जिसमें वेतन के अतिरिक्त 'ऊपर की आमदनी' बहुत होने की सम्भावना है, और वह भी प्रलोभन में पड़ कर रिश्वत घूस, डाली, भेंट आदि खूब लेने लगता है तो इसके इस पतन का भार भी बहुत अंश में क्या समाज पर ही नहीं है?

अन्य सामाजिक अपव्यय के दुष्परिणाम—विवाह के अतिरिक्त अन्य सामाजिक रीति रस्मों में होने वाला अपव्यय भी मनुष्यों को विविध आर्थिक अपराध करने की प्रेरणा किया करता है। उदाहरणवत् हिन्दू समाज के कुछ अंगों में ऐसी विविध प्रथाएं हैं, जिन में जाति-भोज तथा वस्त्राभूषण या नकद रुपया देने आदि में बहुत खर्च होता है। अधिकांश आदमी साधारण आमदनी वाले होते हैं, उनसे ये रीति-भांति करते

नहीं बनतीं। उन्हें समाज में उपालम्भ मिलता है, समय समय पर अपमानित होना पड़ता है। यह देखकर कुछ दुर्बल-आत्मा सहज ही कर्तव्य-भ्रष्ट हो सकते हैं। समाज में अपनी मान-प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए वे बहुधा उचितानुचित के विचार को तिलांजलि दे देते हैं, और धन-प्राप्ति के कुछ कार्यों को बहुधा बुरा समझते हुए भी करने लगते हैं। कुछ लोगों के कन्या-विक्रय या वर-विक्रय आदि का रहस्य बहुत कुछ इसी बात में मिल सकता है।

मृतक बिरादरी-भोज करने वालों को हम म० गांधी के शब्दों में यह कहना चाहते हैं कि "इस भोज में न धर्म है, न कोई अन्य उचित कारण है। केवल मोह और धन से उत्पन्न होने वाला अभिमान ही ऐसे भोजन का कारण हो सकता है। धनिक लोग मृत्यु के बाद किसी लोकोपयोगी कार्य के लिए दान क्यों न दें? ऐसा करने से उन्हें यश-प्राप्ति होगी, और मृतक की आत्मा को शान्ति मिलेगी। ऐसा दान एक प्रकार का श्राद्ध है, स्मारक है।" निर्धन आदमी इस मद में कुछ खर्च न करें।

अस्तु, यह स्पष्ट है कि सामाजिक अपव्यय मनुष्य को नाना प्रकार के दुष्कर्म करने के लिए प्रेरित करता है, और यह कहा जा सकता है कि मनुष्यों के इन दुष्कर्मों को करने का उत्तर-दायित्व बहुत कुछ समाज पर है। समाज के सूत्रधारों तथा हितैषियों को इस ओर ध्यान देना चाहिये, जिससे इस प्रकार

के अपराधों का अवसर यथा-सम्भव न रहे, अथवा बहुत ही कम रहे।

सामाजिक प्रथाओं के कारण होने वाले अपराध— जिस समाज में बाल बिवाह, बे-मेल बिवाह या वृद्ध विवाह आदि के कारण बाल विधवाओं की खासी संख्या हो, और साथ ही विधवाओं को बिवाह करने की अनुमति न हो, अथवा पुनर्विवाह करने वाली विधवाओं को अपमान-जनक दृष्टि से देखा जाता हो, वहां लुका-छिपा व्यभिचार और भ्रूण-हत्या या गर्भपात होना अथवा स्त्रियों का भाग जाना या उनकी आत्म-हत्या होना अस्वाभाविक नहीं है; विशेषतया उस दशा में, जब कि युवती विधवाएं देखती हैं कि उनकी उम्र वाली सखी सहेली आनन्द-प्रमोद में जीवन व्यतीत करती हैं, और जिन घरों में वह (विधवाएं) रहती हैं, वहां का वातावरण भी कामोत्तेजक है।

हिन्दू समाज—उपर्युक्त बातें यहां के हिन्दू समाज के लिए विशेष रूप से विचारणीय हैं। यद्यपि क्रमशः सुधार होता जा रहा है, तथापि अभी कई ऊंची समझी जाने वाली जातियों में समाज विधवा-विवाह की इजाजत नहीं देता; विधवाओं के रहने, खाने-पीने और धार्मिक जीवन व्यतीत करने की पर्याप्त सुविधाएं और संस्थाएं नहीं हैं; जो हैं, उनमें ऊंची जाति का अभिमान करने वाली महिलाएं यथेष्ठ लाभ स्वयं नहीं उठातीं, या उनके रिश्तेदार उसमें अपनी मान-हानि समझकर उन्हें वैसा करने से रोक देते

हैं। इस प्रकार इन समाज-सूत्रधारों के अनुसार विधवाओं का मार्ग सब तरफ बन्द है। वे विवाह करती हैं तो धर्म की दुहाई दी जाती है। यदि वे अपना निर्वाह करने के लिए कुछ उद्योग-धन्धा या दस्तकारी सीखना चाहें तो कुल की मर्यादा आड़े आती है। ऐसी दशा में विधवाएं करें, तो क्या? भोजन वस्त्र की शारीरिक आवश्यकताएं उन्हें परेशान करती हैं, चहुँ ओर प्रलोभन उनके सामने होते हैं। समय समय पर भोग विलास की वासनाएं उनके मन में उठती हैं, दलदल और कीचड़ में पैर फिसलना स्वाभाविक ही है। पर, यदि उनके सन्तान होने की बात खुल जाय तो जाति-बहिष्कार आदि की नंगी तलवार उनकी गर्दन पर गिरने को तैयार है। यह सोचकर वे गर्भपात या नवजात शिशु को चुपचाप मार डालने की बात सोचती हैं। उनके इन अपराधों का दोषी कौन है? समाज।

एक उदाहरण—उदाहरणार्थ यहां सामाजिक मासिक पत्र 'नवयुग' (कलकत्ता) की एक सम्पादकीय टिप्पनी की कुछ पंक्तियां उद्धृत की जाती हैं :—

"......पिछले छः मास से रमीबाई नाम की ... विधवा पर गर्भपात करने का, अथवा पैदा हुई लड़की को तालाब में डुबो कर मार डालने का, जो मामला चल रहा था, उस में उस को एक वर्ष की सादी कैद और दो हजार रुपए जुरमाना, और, जिसे उसको गर्भ ठहराने का दोषी समझा गया है, उस मनीराम को दो वर्ष की सख्त कैद और एक हजार रुपए जुरमाना हुआ है।......हम बहिन रमीबाई के प्रति हार्दिक

समवेदना प्रगट करना चाहते हैं, क्यों कि यह सज़ा मिलने पर भी हम उस को निरपराध मानते हैं। उसने जो अपराध किया है, उसका दोष उसके माथे हरगिज़ नहीं है। दोष तो उस समाज का है जिसने उसको इस कुकृत्य के लिए वाधित किया है। वेचारी विधवा के लिए गर्भ ठहरने पर दूसरी और गति ही क्या है? गर्व ठहराने के लिए भी उसका क्या दोष है? विश्वमित्र सरीखे तपस्वी और दुष्यन्त सरीखे राजर्षि भी जब अपने को संयम में न रख सके तब विधवाओं एवं कुंवारों को एक साथ पास पास बिठाकर उनको संयम इत्यादि की शिक्षा से एक दम वंचित रख कर यदि समाज, ऐसी दुर्घटनाएं न होने की आशा रखता है तो निश्चय ही आग के पास कपास रख देने पर भी सुलगेगी नहीं। हमारे लिखने का यह अर्थ नहीं है कि हम इस व्यभिचार को अपराध नहीं मानते हैं, पर इस अपराध के लिए मार्ग-भ्रष्ट विधवा बहनें दोषी नहीं हैं, किन्तु वह अन्धा समाज दोषी है, जो उन से बलात् संयम करा कर भी ऐसे पापाचार न होने की महा-मूर्खता-पूर्ण आशा रखता है।"

उपर्युक्त पंक्तियां समाज सूत्रधारों के लिए तो विचारणीय हैं ही, हम आधुनिक दंड विधान के समर्थकों का भी इस ओर यथेष्ठ ध्यान आकर्षित करते हैं। इस सम्बन्ध में जज साहब का फैसला भी विचारणीय है। यद्यपि हम उसकी विचार धारा से पूर्णत: सहमत नहीं है तथापि उस की कई बातें समाज सुधारकों के लिए उपयोगी हैं। विशेष विचारणीय स्थलों को हमने रेखांकित कर दिया है। अन्यान्य बातों में जज साहब लिखते हैं :—

"......रमी बाई हिन्दू समाज के उस पाप की शिकार हुई है, जो विधवा स्त्री को बलात् रूप से विधवा रहने के लिए बाधित

करता है, चाहे वह अपने आप को विधवा रखना चाहे या नहीं। वह दस साल से विधवा थी, और ऐसा प्रतीत होता है कि प्रलोभनों में आकर मनीराम के चगुल में फंस गई। फिर भी वह सुख और आराम में पली हुई स्त्री है। उसके लिए यही दंड पर्याप्त होगा जो उसे समाज और सोसायटी की ओर से शर्म या लज्जा के रूप में उठाना पड़ा है। इन सब बातों के कारण वह अदालत की ओर से दया और सहानुभूति के योग्य है।

किन्तु साथ ही एक नन्हें बालक को उस की दयनीय अवस्था से बचा कर उस की रक्षा करने का भार उसी पर था, इस बात को हमें अपने मन से निकाल न देना चाहिये।...."

कुछ विवेचन—हम समझते हैं कि जज साहब यदि कानून में बंधे न होते तो उस बच्चे की हत्या के लिए भी समाज को ही दोषी ठहराते और रमीबाई को दंडित न करते। ऐसे मामलों में लोक-लज्जा का प्रभाव ऐसा विकट होता है कि कोई कोई व्यक्ति अपने जीवन से भी हाथ धो बैठना पसन्द करता है, अपनी मृत्यु का स्वागत करता है; उस से दूसरों की—अपनी सन्तान की भी, रक्षा की क्या आशा की जाय! फिर अपनी सन्तान को, चाहे वह कितनी ही छोटी आयु की क्यों न हो, जान से मार डालने में माता को कुछ हर्ष या सन्तोष तो हो ही नहीं सकता। वह जिस धर्म-संकट में पड़ कर यह क्रूर कर्म करने को उद्यत होती है, उसे समझने की क्षमता कानून में नहीं है, उसके लिए विवेकवान हृदय चाहिये।

दूसरा उदाहरण—अब एक दूसरा उदाहरण लीजिये। कुछ दिन की बात है कि युक्त प्रान्त के रहने वाले उच्च हिन्दू कुल के एक कलर्क महाशय अपनी युवती कन्या और अन्य कुटुम्बी जनों के साथ लाहौर से लखनऊ जा रहे थे। इसी गाड़ी में एक मुसलमान युवक भी सवार हो गया। अम्बाला छावनी पर मुसाफिरों की भीड़ में मौका देखकर कन्या और मुसलमान युवक गाड़ी से उतर पड़े और वहां से लुधियाना चले गए। कन्या के के माता पिता भी, पीछे पता लगाते हुए वहां पहुंचे और उन दोनों को गिरफ़्तार कराया। लड़की ने कहा कि "मैं अपनी मर्जी से इस मुसलमान के साथ आई हूँ। मैं अपने पति के साथ रहना नहीं चाहती। क्यों? वह अल्प-वयस्क बालक है, और मेरा यौवनहै।"

कुछ विचार—कन्या को पतित कहने वाले, उसे जाति-च्युत करने वाले, और मुसलमान युवक को अपराधी ठहराने वाले तो बहुतेरे मिल सकते हैं। परन्तु क्या यह घटना कुछ विशेष विचारणीय नहीं है? क्या इस का उत्तरदायित्व उस समाज पर नहीं है, जो बे-मेल विवाहों की अनुमति देता है, जो वृद्ध के साथ तरुणी और बालक के साथ युवती कन्या का सम्बन्ध होने देकर व्यभिचार का मार्ग स्वयं प्रशस्तकरता है? क्या केवल समाज और राज्य से मिलने वाले दंड ऐसे अपराधों को रोक सकते हैं, जिनका वर्तमान सामाजिक परिस्थिति में होना नितान्त स्वाभाविक और अनिवार्य है?

सातवां परिच्छेद

—:o:—

राजनैतिक परिस्थिति

'अत्याचारी शासन में जकड़े हुए व्यक्ति को अपने जीवन में आध्यात्मिक साधना की आकांक्षा को त्यागना होगा, अथवा उसे क्रान्तिकारी बन जाना पड़ेगा।'

—बर्नार्ड हाटन

राजनैतिक अपराध—जब राज्य-कार्य प्रजा प्रतिनिधियों द्वारा संचालित न होने से या उसमें सुयोग्य सेवकों का भाग न होने से जनता कष्ट पाती है, आदमी दिन भर मेहनत मजदूरी करने पर भी अपना पेट नहीं भर सकते, सर्दी गर्मी से अपनी रक्षा नहीं कर पाते, लज्जा-निवारण के लिए मामूली वस्त्र नहीं प्राप्त कर सकते, बूढ़े, स्त्रियां, और बच्चे व्याकुल रहते हैं, तो, ये बातें सहृदय भावुक व्यक्तियों से देखी नहीं जातीं। उनके हृदय में उथल-पुथल मच जाती है, वे बेचैन हो जाते है, वे अपने बन्धुओं की, अपनी प्यारी मातृ-भूमि की, अपने राष्ट्र-रूपी विशाल परिवार की दशा सुधारने के लिए चिन्तित हो जाते हैं;

जैसे बने उनको सुखी करना, यही उनके जीवन का प्रोग्राम बन जाता है। इस के लिए वे अधिकारियों का अधिकार-छोटा देश मद दूर करने को कटिबद्ध हो जाते हैं; इस प्रकार वे 'राजनैतिक अपराध' करने लगते हैं।

राजनैतिक कैदी—इनका 'अपराध' केवल यह होता है कि ये तत्कालीन शासन पद्धति को ऐसे उपायों से भी संशोधित करने का प्रयत्न करते हैं, जो उस समय गैर-कानूनी माने जाते हैं। ये जो कुछ कार्य करते हैं, अपने देश-बन्धुओं के सुख दुख की चिन्ता से प्रेरित होकर करते हैं। परन्तु इस बात का अनियंत्रित राज्यों या पराधीन देशों में कुछ लिहाज नहीं किया जाता। वहां ये शत्रु समझे जाते हैं। इनसे बेईमान, चोर, डकैतों और हत्यारों आदि की तरह बर्ताव किया जाता है, अधिकारियों को चाहिये कि वे इस बात को भली भांति स्मरण रखें कि इन राजनैतिक कैदियों में भावी शासन सूत्रधार सम्मिलित हैं; आज नहीं तो कल, जल्दी नहीं तो कुछ समय बाद, ये इस समय के 'अपराधी' (या इनकी सन्तान) दंड-विधान के निर्म्माता और निर्णायक होंगे। उन्हें दंड देना या उनके साथ दुर्व्यवहार करना कैसे उचित हो सकता है?

राजनैतिक अपराधियों का कार्य तो जनता की हित-कामना के भाव से होता है, उनके अपने स्वार्थ के वास्ते नहीं। इसलिए सर्व साधारण की, प्रत्यक्ष या गौण रूप से, इनके साथ सहानुभूति

होती है। इन्हें दंड पाता देख कर उनकी इनके प्रति सम-वेदना का भाव बढ़ता है, और राज्य जनता की सहानुभूति से वंचित हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि अन्य अपराधियों की अपेक्षा, राजनैतिक अपराधियों को दंड देना राज्य के लिए और भी अधिक हानिकर, तथा अपराधियों को बढ़ाने में सहायक होता है।

एक घटना—मई १९३१ में, 'कर्मवीर' (खंडवा) में यह प्रकाशित हुआ था—

"गत २४ अप्रेल को हिसार (पंजाब) में एक भंयकर दुर्घटना हो गई। चार लड़के गांव में खेल कूद में व्यस्त थे। उन्होंने निश्चय किया कि भगतसिंह आदि की फांसी का नाटक खेला जाय। एक लड़का भगतसिंह बना, दूसरा राजगुरू और तीसरा सुखदेव बना। चौथा लड़का अंगरेज अफसर बना। उसने भगतसिंह को फांसी देने का हुक्म दिया। भगत सिंह बनने वाला लड़का, गले में कपड़ा बांध कर पेड़ में लटका दिया गया। कुछ देर बाद उसके प्राण निकल गए। अन्य दो लड़के भी फांसी पर चढ़ने को तैयार थे। पर इतने में ही वहां से एक कांग्रेस कार्य-कर्ता आ निकले। उन्हों ने लड़कों से बातें कर सब हाल मालूम किया, और बाकी लड़कों को फांसी पर न चढ़ने दिया। मृत लड़के की लाश का जलूस निकाला गया और शाम को एक शोक-सभा हुई।"

इस पर विचार—इस पर तनिक विचार करें। क्या अंगरेज अफसर बनने वाला लड़का अपराधी है? भले ही, खून करने की आज्ञा देने के कारण, वह अपराधी कहा जाय; चाहे, आधुनिक दंड-विधान उसे फांसी नहीं तो कुछ समय की कैद के योग्य ठहराए,

हमारे विचार से यद्यपि उसने घातक मनोरंजनमें भाग लिया, उसका हृदय निर्दोष था। लड़कों को स्वभाव से खेल तमाशे पसन्द होते हैं। उनका स्वभाव नकल करने का भी होता है। बाल्यावस्था में हम अपने माता पिता का अनुकरण करते हैं, तो बड़े होकर बड़ी उम्र वालों का। अपनी अपनी रुचि के अनुसार कभी कभी हमें सुप्रसिद्ध व्यक्तियों की नकल करना अच्छा लगता है, कभी हम बदमाशों या बदनामों की नकल में ही आनन्द का अनुभव करते हैं। आदमी विविध संस्थाओं तथा राज्य की तो बहुत ही नकल किया करते हैं; कहावत है 'यथा राजा तथा प्रजा।'

उक्त घटना के समय भगतसिंह आदि की ख्याति देश-व्यापी थी। जिन लड़कों का ऊपर उल्लेख हुआ है, उन्हों ने भगतसिंह आदि सम्बन्धी जलूसों और सभाओं में भाग लिया होगा, न लिया हो, तो उनका सविस्तर वर्णन तो सुना ही होगा। उनके भी मन में ऐसी घटना की नकल करने की बात आगई। उन्हों ने इस के परिणाम पर विचार न किया होगा; किया भी होगा तो अपने स्वाभाविक साहस के कारण केवल दुष्परिणाम के भय से भयभीत होना उन्हें ठीक न जचा। और, वे यह घातक नाटक कर बैठे। उनके विशेष साहस (दुस्साहस?) की सूचना तो इस बात से मिलती है कि उनके कार्य से उनमें से एक के प्राण-पखेरू उड़ गये, उस का शव उन के सामने उपस्थित है, फिर भी उन में से दो और लड़के (राजगुरु और सुखदेव बनने वाले) उस मार्ग पर चलने में तनिक संकोच नहीं करते।

अस्तु, ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति वास्तव में दोषी नहीं है। वरन् यह कहा जा सकता है कि ऐसी घटनाओं के लिए तो उस राजनैतिक स्थिति को उत्तरदाई समझना चाहिये, जिसमें लोक-मत की अवहेलना की जाती है और, 'अपराधी' समझे जाने वाले व्यक्ति को दंड देकर उसे सर्व साधारण में और भी अधिक मान्य, प्रतिष्ठित तथा अनुकरण-योग्य बनाने में सहायता दी जाती है।

कानून और अपराध—वर्तमान परिस्थिति में राज्य के प्रत्येक कार्य में कानून का बोल-बाला रहता है, और अपराधियों को जेलर आदि जिन चिकित्सकों से पाला पड़ता है, वे सब उस यंत्र के पुर्जे होते हैं, जो कानून की वास्तविक उपयोगिता का विचार न कर उसका रूढ़ि की भांति पालन करता है। यह स्मरण रहना चाहिए कि कानून कोई सर्वथा निर्दोष वस्तु नहीं है, और न उसकी उपयोगिता सदैव बनी रहती है। समाज का जीवन निरंतर बदलता रहता है, जो कानून, नियम या रीतियां उस की किसी विशेष स्थिति को लक्ष्य में रख कर प्रचलित की जाती हैं, वे कालान्तर में न केवल लाभकारी नहीं रहतीं; वरन उनसे उलटा हानि होने लगती है। अतः कोई कानून कठोर और दृढ़ नहीं होना चाहिये, उस में आवश्यकतानुसार परिवर्तन और संशोधन होते रहने चाहिये; यही नहीं, उसके अनावश्यक हो जाने पर, उसे रद्द करना ही अच्छा है।

आठवां परिच्छेद

—:o:—

'धर्म' और अपराध

'धर्म के नाम पर कितने पाप समाज में होते हैं, इसका अन्दाजा लगाना कठिन है। रूढ़ी के बन्धन से मुक्ति पाना सहल नहीं है।'

—'जयाजी प्रताप'

धर्म का अर्थ वास्तव में कर्त्तव्य है। यह बहुत व्यापक है। इससे मनुष्य-समाज का बहुत हित-साधन होता है। परन्तु आज कल सर्व साधारणकी बोल-चाल में धर्म का अर्थ मत या मजहब, सम्प्रदाय आदि रह गया है। इस संकुचित अर्थ वाला धर्म अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। यदि उसकी स्थापना अच्छे सिद्धान्तों पर है तो वह मनुष्यों के विकास के लिए पर्याप्त अवसर और सुविधाएं प्रदान करता है, वह भूले-भटकों के लिए प्रकाश-स्तम्भ का काम देता है, उन्हें अपराध करने से बचाता है। परन्तु इसके विपरीत धार्मिक अन्ध विश्वास, अविवेकता और कृत्रिमता लोगों को कर्तव्य-भ्रष्ट भी कर देती हैं। आज कल अनेक 'धर्मात्मा' कहे जाने वाले व्यक्ति अपने जीवन के सुधार का, या

अपने दीन हीन बन्धुओं के हित-साधन का लक्ष्य नहीं रखते। द्रव्योपार्जन में ये झूठ सच का विचार नहीं करते, दया और सहानुभूति को ये तिलांजलि दे देते हैं। साधारण असहाय व्यक्तियों से जैसे-बने रुपया ऐंठने, या बहुत अधिक काम करा कर उन्हें नाम-मात्र की मजदूरी देने, उन को अपना कर्जदार बना कर उनसे भारी सूद लेने, और उन के सूद न देने की अवस्था में नालिश करके उनकी झोपड़ी का सामान तथा खाने पीने के बर्तन तक नीलाम कराने में ये संकोच नहीं करते। अनेक महन्तों, मठाधीशों, और 'अखाड़ेवालों' का बहुत सा समय और शक्ति मुकद्दमेबाजी में नष्ट होती है। कितने ही सेठ साहुकार और 'पैसे-वालों' के कारनामे जग-जाहिर हैं। इस पर भी ये लोग सर्व साधारण में 'बड़े आदमी' बने रहते हैं, और यथेष्ठ आदर-मान पाते रहते हैं। यदि कदाचित इन का कोई दुष्कृत्य प्रकाश में भी आ जाता है, तो एक तो दूसरे आदमी वैसे ही उसकी चर्चा नहीं करते, फिर ये भी ब्राह्मण-भोजन करा कर, तीर्थ यात्रा करके मन्दिर आदि में कुछ द्रव्य लगा कर या दान आदि देकर उस पर सहज ही आवरण डाल देते हैं।

अनिष्टकारी प्रभाव—इस का समाज पर बड़ा अनिष्ट-कारी प्रभाव पड़ता है। साधारण स्थिति के आदमी भी औरों की दृष्टि में धार्मिक बनने के लिए किसी न किसी प्रकार तीर्थ-

यात्रा करने, ब्राह्मण-भोजन या अन्य दान धर्म करने की योजना किया करते हैं। इसके वास्ते, उन्हें महीनों ही नहीं, कभी कभी वर्षों तैयारी करनी पड़ती है। जैसे-बने पैसा संग्रह करना होता है, जिस में ये अनेक प्रकार से छल कपट या धोखा-धड़ी का व्यापार करते हैं। यदि हम धर्म को कुछ खास खास समय की बाह्य क्रियाओं में सीमित न कर, उस के उच्च सिद्धान्तों को अपने जीवन में धारण करें, और अपने दैनिक व्यवहार को सुधारें तो संसार से कितने ही अपराधों का समूल निवारण हो जाय।

धर्म और सामाजिक कुरीतियां—संसार में समय समय पर विविध धर्माचार्यों और नियम-निर्माताओं का शुभागमन होता है; वे अपनी प्रतिभा के अनुसार सर्व साधारण के लिए मार्ग-दर्शक का कार्य करते हैं, जिस से आदमी अपना जीवन अच्छी तरह वितावें, एक दूसरे का कल्याण करने में सहायक हों, और सब, लोक परलोक में सुख पावें। उनके प्रति कृतज्ञता का भाव रखना उचित ही है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं होना चाहिये कि उन के आदेशों का उन के पीछे या उन के समय में ही, आंख मीच कर बिना बिचारे पालन किया जाय, अथवा, यह भी न सोचा जाय कि उन के नाम से प्रसिद्ध रचनाओं में कितना भाग स्वयं उनका है, और कितना अन्य व्यक्तियों का मिलाया हुआ 'क्षेपक' है। आवश्यकता है कि प्रत्येक बात को भली भांति सोच समझ कर, उसके देश काल का विचार करके, अमल में

लाया जाय। उदाहरणवत् यदि हिन्दू समाज के 'शास्त्र' कहे जाने वाले किसी ग्रन्थ में यह उल्लेख है कि विवाह बाल्यावस्था में होना चाहिये, विधवा-विवाह वर्जित है, स्त्रियों को पर्दे में रहना चाहिये, स्त्रियों और शूद्रों को निम्न श्रेणी का समझना चाहिये और उन्हें शिक्षा प्राप्ति का अवसर न देना चाहिये—तो हमें इन बातों को केवल इस आधार पर मान लेना उचित न होगा कि हमारे पूर्वजों ने इन का प्रतिपादन किया है, या यह बात 'शास्त्र' में लिखी है। हमें तो आधुनिक परिस्थिति का विचार रख कर प्रत्येक प्रश्न पर स्वतंत्र चिन्तन करना होगा; अन्यथा, अविवेकता-पूर्वक हर एक बात को मान लेने से हमारे शास्त्र, समाज में नाना प्रकार के अपराधों की सृष्टि और वृद्धि करने वाले होंगे।

धार्मिक अन्ध विश्वास और अपराध—संसार में अन्ध विश्वासों के कारण कितने ही अपराध होते रहते हैं। परन्तु कितने स्थानोंके कानून में ऐसे अपराध करने वाले को उसके उत्तरदायित्वसे मुक्त रखने की व्यवस्था है? पिछले दिनों 'स्वराज्य' (खंडवा) में दो घटनाएं प्रकाशित हुई थीं। पहली इस प्रकार है। एक संथाल को कुछ बीमारी थी। अपनी योग्यतानुसार दवादारू कर चुकने पर उसके दिमागमें यह बात आई कि उसकी बीमारी किसी देवी देवताके कोप की वजह से है। देवता को प्रसन्न करने की ग़रज़ से वह अपने एक वर्ष के छोटे बच्चे को खेत में ले गया।

उसने सिन्दूर-चर्चित 'पेड़' देव और 'पत्थर' देव को हाथ जोड़े, नाक रगड़ी और प्रार्थना की कि "मेरा बलिदान स्वीकार कर मुझे रोग-मुक्त कर दीजिये।" उसने अपने बच्चेको फूलोंकी माला पहनाई और देवता का नाम लेकर उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। गांव में जाकर उसने बड़े-बूढ़ों को अपना किस्सा सुनाया। मनुष्य-वध के अपराध में, पुलिस ने उसको चालान कर दिया।

दूसरी घटना इस प्रकार है—एक स्त्री के दो बच्चे थे। उस का पति मर गया। कुछ दिनों पहले उक्त स्त्री के दोनों बच्चे भी मर चुके थे। स्त्री के देवर के दिल में शक पैदा हुआ—यह 'डायन' है। अपने बच्चों को खा ही गई है, अब शायद मेरे बच्चों को भी खा जाय। उसने उस स्त्री के शरीर से 'डायन' को मार भगाने की ठानी। एक दिन उसके प्रहारों के कारण उक्त स्त्री मर गई। पुलिस ने इस संथाल को कैद कर लिया है।

ऐसे व्यक्तियों को दंड देने से कानूनी कार्रवाई अवश्य पूरी हो जाती है, परन्तु क्या इससे अभीष्ट-सिद्धि होती है? क्या लोगों के अंन्ध विश्वासों को दूर करने का उपाय जेल है? क्या समाज या राज्य का इस दिशा में कुछ और कर्तव्य नहीं है?

धार्मिक असहिष्णुता और अपराध—यह तो हुई धार्मिक अन्ध विश्वासों के कारण होने वाले अपराधों की बात। धार्मिक असहिष्णुता से भी संसार में अनेक भयंकर दुष्कृत्य किए गए

हैं, इसका उल्लेख पहले हो चुका है। भिन्न भिन्न देशों में समय पर विचार-स्वातंत्रय का भयंकर विरोध हुआ है। जिन लोगों ने प्रचलित विश्वासों के प्रतिकूल मत प्रकट किया, वे समाज और राज्य के लिए भयानक समझे गए। अनेक 'दयालु' और 'सज्जन' पुरुषों का भी यह मत रहा कि एक क्षेत्र (नगर या राज्य) भर के सब आदमियों की धार्मिक रीति रस्में और आचार-व्यावहार एक सा होना चाहिए, और यदि इसमें कोई नवीनता का भाव लाने या, कुछ अन्तर उपस्थित करने का प्रयत्न किया जायगा तो समस्त जनता को दैवी कोप, महामारी, अनावृष्टि या अतिवृष्टि आदि का फल भोगना पड़ेगा। ऐसी विचार-धारा के कारण, विशेषतया योरपीय देशों के मध्य-कालीन इतिहास के अनेक पृष्ट रक्त-रंजित घटनाओं से परिपूर्ण हैं। सहस्रों स्त्री पुरुषों पर भयंकर अत्याचार केवल इस लिए हुए कि वे अपने यहां के संगठित समाज के धर्म को नहीं मानते थे, और उनके विश्वास या विचार भिन्न थे। इन बेचारों के जान माल पर तो बुरी बीती ही, इनके साथ इनके अबोध निर्दोष बाल बच्चों को भी तलवार या खंजर के घाट उतारा गया, अथवा और भी निर्दयता के साथ यम-लोक पहुँचाया गया।

पिछली शताब्दियों में शिक्षा साहित्य तर्क और विज्ञान का अधिकाधिक प्रचार होने से लोगों के मन में नये विचारों का प्रवेश हुआ, धार्मिक असहिष्णुता का क्रमशः लोप हुआ, उदारता के भावों की वृद्धि हुई। इससे धार्मिक और सामाजिक

रूढ़ियों का महत्व कम हुआ, अब बहुत से भिन्न भिन्न विचार वाले भी एक दूसरे के साथ प्रायः शान्तिपूर्वक रहते हैं; यही नहीं, अनेक आदमी अपने धर्म को भी तर्क की कसौटी पर कसते हैं, और दूसरों की आलोचना प्रत्यालोचना का सहर्ष स्वागत करते हैं।

तथापि अभी धार्मिक सम-भाव का यथेष्ठ प्रचार नहीं हुआ है। प्रत्येक देश में थोड़े बहुत आदमी ऐसे होते हैं जो दूसरे धर्म वालों, तथा अपने ही धर्म के अन्य उपभेद मानने वालों को अपने से कम दर्जे का या अधम समझते हैं, जो अपने इष्ट देव या धार्मिक पुस्तक की आलोचना सम्बन्धी कोई बात सुनना सहन नहीं कर सकते। यहां तक कि कुछ की मनोवृत्ति तो ऐसी है कि वे अन्य धर्मों के अनुयाइयों को अपने धर्म में लाने के लिए छल, बल या प्रलोभन आदि का उपयोग करते हैं। यही नहीं, कुछ आदमी तो ऐसे भी होते हैं कि यदि उनका वश चले तो दूसरे धर्म वालों का इस सृष्टि से अस्तित्व मिटा कर 'इस पृथ्वी का भार हटाना,' और अपने 'धर्म-प्रेम' की विज्ञप्ति करना चाहते हैं।

नास्तिकता और अपराध—यहां इस सम्बन्ध में भी विचार हो जाना आवश्यक है कि क्या नास्तिकता अपराधों को बढ़ाने वाली होती है। दुनिया में अधिकतर आदमी अपने आप को किसी न किसी धर्म का अनुयाई समझना और कहना

पसन्द करते है; किसी भी धर्म को न मानने वालों अर्थात् नास्तिकों की संख्या बहुत कम है; हां, कुछ समय से उसमें वृद्धि हो रही है।

साधारणतया लोगों का यह मत होता है कि नास्तिक बहुत अपराधी होते हैं। परन्तु स्मरण रहे, कि धर्म का अनुदार और संकुचित अर्थ लेने वालों से नास्तिकों का जीवन कदापि बुरा नहीं है। अनेक नास्तिकों ने राज्य और समाज की उन्नति करने के हेतु ऐसे उत्तम विचार उपस्थित तथा प्रचारित किए हैं कि वे भिन्न भिन्न मत-मतान्तरों के अनुयाइयों से इस विषय में अच्छी टक्कर ले सकते हैं। उनका व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन इतना उच्च और पवित्र होता है कि दूसरों को सहसा विश्वास नहीं होगा।

भिन्न भिन्न मतों के इतिहास में, उन मतों के कुछ विशेषतया कट्टर आचार्यों में एक बात विशेष रूप से देखने में आई है। वे प्रायः जनता में शिक्षा-प्रचार के विरोधी होते हैं। वे धर्म-ग्रन्थों का सर्वसाधारण की भाषा में अनुवादित होना यथाशक्ति रोक कर उन्हें मूल प्राचीन भाषाओं में रखने के पक्ष में होते हैं। उन्हें यह आशंका होती हैं कि यदि सर्वसाधारण इन ग्रन्थों का आशय समझने लगे तो फिर उनकी दृष्टि में हमारे प्रति इतनी भक्ति न रहेगी, हमारी मान-प्रतिष्ठा को बट्टा लगेगा। वे यह चाहा करते हैं कि लोग विज्ञान, तर्क और बुद्धिवाद से जितनी

दूर रहें, उतना अच्छा है, क्योंकि इससे अन्ध-विश्वासों की रक्षा होती रहेगी, जो उनके विचार से, उनके धर्म (मत) के मूलाधार हैं।

इस विचार से तो कहना पड़ता है कि यह आवश्यक नहीं है कि नास्तिक आदमी औरों की अपेक्षा स्वयं अधिक अपराधी हों, या वे दूसरों के अपराधी बनने में अधिक सहायक होते हों; वरन् इतिहास, विशेषतया योरपीय देशों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि नास्तिक उस पाप और अत्याचार से सर्वथा मुक्त रहे हैं जो 'धर्मात्मा' लोगों ने अपने अपने मत-मतान्तर का प्रचार करके या सर्वसाधारण को अन्ध कूप में रख कर, किया है। कुछ विद्वानों की तो यह स्पष्ट सम्मति है, और, वे इसे युक्तियों द्वारा सिद्ध करते हैं कि विविध धर्म (मत) संसार से अपराध कम करने में सर्वथा विफल रहे हैं, और आधुनिक अनेक धर्मात्माओं से नास्तिक कहीं अच्छे हैं, कहीं कम अपराधी हैं।

दूसरा पक्ष—परन्तु इस विषय का दूसरा पक्ष भी है। जो आदमी वास्तव में आस्तिक है, जो ईश्वर की सर्वोपरि सत्ता और सर्व श्रेष्ट न्याय आदि में विश्वास रखते हैं, उन्हें संसार की विविध समस्याओं और कठिनाइयों में धैर्य और आश्वासन की प्राप्ति होती है; और, वे जीवन को व्यापक रूप में समझने और अनुभव करने में समर्थ होते हैं। उदाहरणवत् वे सब मनुष्यों (एवं अन्य प्राणियों) को एक परम पिता परमात्मा

की सन्तान मानने से सब में भ्रातृ-भाव रखते हैं, उनमें जातीय, प्रान्तीय या राष्ट्रीय आदि संकुचित भावनाएं काम नहीं करतीं; वह यथा-सम्भव अन्तर्राष्ट्रीय मानव हित साधन करने में तत्पर होते हैं। पुनः सच्चा आस्तिक कभी लुक-छिप कर या छल-कपट से भी चोरी, डकैती, पर स्त्री-गमन, या द्वेष मत्सरता आदि दुर्गणों को अपने हृदय में स्थान न देगा। चहुंओर की विघ्न बाधाओं में भी उसे आन्तरिक शान्ति रहेगी। विविध रोग शोक आदि में भी वह अपने कर्तव्य-पथ से विचलित न होगा, और क्योंकि वह ईश्वर की शक्ति को संसार का वास्तविक सूत्र संचालक मानता है, इसलिए उसे न तो किसी कार्य की सफलता पर अत्यन्त अहंकार या मिथ्याभिमान होगा, और न किसी विफलता पर ही उसे निराशा का सामना करना पड़ेगा।

विशेष वक्तव्य—हां, जैसा कि हमने ऊपर कहा है, यह बात उसी दशा में चरितार्थ होती है, जब आस्तिक वास्तव में आस्तिक हो; केवल कहने भर को, या दिखावे मात्र को, नहीं। जो आदमी घंटों पूजा-पाठ, हरि-स्मरण या कीर्तन आदि करके भी व्यवहार में लोगों से ईर्षा द्वेष आदि का भाव रखते हैं, राम नाम की माला जपते जपते भी अथवा 'पवित्र' वस्त्र धारण किए हुए अपने स्वार्थ-पूर्ण विचारों को कार्य रूप में लाने की चिन्ता किया करते हैं, ईश्वर को सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान कहते हुए भी अदालतों में झूठी साक्षी देने में संकोच नहीं करते, अपना

प्रयोजन सिद्ध करने के लिए नाना प्रकार के छल-कपट, मिथ्या स्तुति, खुशामद, या रिश्वत आदि के व्यवहार में संकोच नहीं करते, और अपनी दुकानदारी या नौकरी आदि को चलाने के लिए अपने आस्तिक-वाद को एक साधन बनाते हैं, वह वास्तव में आस्तिक नहीं है। ऐसे आस्तिकों से नास्तिक हजार दर्जे अच्छे हैं, जो अपने अपराधों या दुष्कृत्यों को छुपाने के लिए 'धर्म' या ईश्वर की आड़ नहीं लेते, और अपने स्वीकृत सिद्धान्तानुसार स्पष्ट अर्थात् खुला आचरण करते हैं।

अस्तु, यह कहा जा सकता कि है यद्यपि नास्तिकता का भाव रखने वाले व्यक्ति सदाचारी और परोपकारी हो सकते हैं, और कुछ होते भी हैं, तथापि आस्तिकवाद हमें अपराधी होने से बचाने के लिए बहुत सहायक होता है, हां, यह आस्तिकवाद हमारे अन्तः-करण में पूर्ण रूप से हो। हम केवल कुछ खास अवसरों पर, या दिन रात के कुछ खास खास घंटों में ही अपनी आस्तिकता का प्रदर्शन करने वाले न हों, ईश्वर-भक्ति सूचक कुछ विशेष क्रियाओं के सम्पादन मात्र से संतुष्ट होने वाले न हों, वरन् हर घड़ी हमारे मन वचन और कर्म से आस्तिकता का परिचय मिलता रहे, तभी हम स्वयं अपराध करने से बच सकते हैं, और अपने अन्य नागरिक बन्धुओं को अपराध करने से बचाने में सहायक हो सकते हैं।

नवां परिच्छेद

—:o:—

सभ्यता और अपराध

"सभ्यता और व्यवस्था के रक्षार्थ किए गए अपराध कदापि 'अपराध' करार नहीं दिए जा सकते। निरंकुश समाज के बड़े आदमियों के नियम ही निराले हैं।"

—'पतित बन्धु'

देश की सभ्यता पर भी अपराधों का घटना बढ़ना बहुत-कुछ निर्भर होता है। यदि हमारी सभ्यता की प्रगति बहिर्मुख न होकर आन्तरिक सुधार की ओर है, वह हमें सादा जीवन और उच्च विचार रखना सिखलाती है तो हम संसार के विविध प्रलोभनों से बहुत-कुछ बचे रह सकते हैं। इसके विपरीत, यदि हम ऐसी सभ्यता के पीछे बे-तहाशा दौड़ रहे हैं, जो हमें दिन-रात रुपए-पैसे के लिए हाय-हाय करना सिखाती है, जो हमारा असन्तोष बढ़ाती रहती है, जो बतलाती है कि जितनी हमारी आवश्यकताएं बढ़ेंगी, जितना ऐश्वर्य वैभव तथा विलासिता का सामान हमारे पास अधिक होगा, जितना हम अपने बन्धुओं

से अधिक सम्पत्तिमान होंगे उतनी ही हमारी प्रतिष्ठा और नेकनामी अधिक है, तो निश्चय ही हम जीवन यात्रा में किं-कर्तव्य-विमूढ़ होंगे; अपराधी बनेंगे।

आधुनिक सभ्यता—उपर्युक्त कसौटी से आधुनिक भौतिक सभ्यता की कुछ परीक्षा करना उपयोगी होगा। कुछ विकास-वादी हमारा ध्यान तार, डाक, टेलीफोन, रेडियो, मोटर, ट्राम, रेल, जहाज और वायुयान आदि की ओर आकर्षित करते हैं। दूसरे सज्जन पक्की सड़कें, ऊंचे हवादार मकान, सिनेमा, नाटक-घर और विशाल कल-कारखानों आदि को हमारी उन्नति के प्रमाण-स्वरूप उपस्थित करते हैं। निस्सन्देह आधुनिक सभ्यता ने अनेक ऐसे साधन प्रस्तुत कर दिए हैं, जिन से मानव जाति का बहुत कल्याण हो सकता है। परन्तु यह तभी सम्भव है, जब उन साधनों का सदुपयोग हो। अन्यथा, जिस प्रकार, आत्म-रक्षा के वास्ते प्रस्तुत की हुई तलवार उसी आदमी का बध भी कर सकती है, उसी प्रकार उक्त साधन, दुरुपयोग होने की दशा में, मानव संसार का बड़ा अनिष्ट कर सकते हैं।

अस्तु, आज कल स्वयं मनुष्य की स्थिति कैसी है? लोगों का स्वभाव, चरित्र और पारस्परिक बर्ताव कैसा है, और कैसा होता जा रहा है। आधुनिक सभ्यता ने प्राचीन जाति-प्रथा को हटा कर मनुष्यों का एक भेद-भाव दूर करने का प्रयत्न किया है, तो काले गोरे आदि का नवीन वर्ण-भेद स्थापित कर

दिया है; साथ ही, पूंजीवाद का नया प्रवाह चला कर अमीर और गरीब में जमीन-आसमान का अन्तर कर दिया है। दास-प्रथा और बेगार का भी इसने केवल स्वरूप ही बदला है, उसका लोप नहीं किया है। अनेक स्थानों में शर्तबन्द कुली प्रथा है, और दिन-रात कारखानों में पिसने वाले मजदूरों का जीवन प्राचीन काल के अनेक दासों से अच्छा कहां है! उन्हें प्राचीन दासों की तरह रोटी कपड़ा नहीं मिलता, कुछ निर्धारित पैसे मिलते हैं, उनसे उनका निर्वाह हो या न हो। फिर इन में सदाचार, ईमान-दारी आदि कैसे हो!

नगरों का प्रभाव—आधुनिक सभ्यता का एक कार्य जीवन की सरलता को लुप्त कर उसे अधिकाधिक पेचीदा, कृत्रिम और आडम्बरमय बनाना है। छोटे छोटे ग्रामों को नष्ट करके बड़े बड़े नगरों का निर्म्माण हो रहा है, और प्रायः इन नगरों में कई प्रकार के पतन के मार्ग खुले हुए है। नित्य नये आश्रय-हीन, सत्संग-विहीन, अबोध नर-नारी चटक-मटक, फैशन, और विलासरूपी नरक-कुंड में गिरते रहें, तो क्या आश्चर्य!

बड़े बड़े शहरों में लोगों की बड़ी भीड़ रहती है, इसका मन पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता, चंचलता तथा अशान्ति बढ़ती है। पुनः बहुत से निम्न श्रेणी के आदमी (अधिकांश में पुरुष), आजीविका आदि के लिए अकेले रहते हैं, इन पर परिवार, रिश्तेदारों, या बिरादरी का कुछ नियंत्रण नहीं रहता। अपने ही

जैसे निम्न श्रेणी के साथियों के संसर्ग-दोष से इनमें उच्छृङ्खलता और अनैतिकता आ जाती है। इनकी देख-भाल काफी नहीं हो सकती, ये जांच से सरलता-पूर्वक बच सकते हैं, क्योंकि घर-बार न होने से ये अपराध करके शीघ्र स्थानान्तर-गमन कर सकते हैं। प्रायः लोगों के निवास में जितनी अस्थिरता होती है, उतना ही उनकी अपराध-मूलक क्रियाएं अधिक होती है।

बड़े बड़े नगरों में समाचार पत्रों में अपराध-मूलक घटनाओं के विस्तृत और ब्यौरेवार विवरण छपते हैं, इसका कुछ मनुष्यों पर बहुत हानिकर प्रभाव पड़ता है, क्यों कि उदाहरणों में बड़ी शक्ति होती है, अच्छा काम कराने की, और बुरा काम भी। लोगों की भीड़ द्वारा किए जाने वाले उपद्रवों का एक मुख्य कारण उनकी अनुकरण-शीलता होती है।

संयुक्त राज्य अमरीका के, कानून और विज्ञान के उन्नत और विकसित कहे जाने वाले रूप से सुसज्जित होने पर भी वहां अपराधों की संख्या बहुत बड़ी रहती है। इसका एक कारण यह है कि वहां कई संसार-प्रसिद्ध बड़े बड़े नगर हैं, उनमें अमरीका के भिन्न-भिन्न कानूनों वाले विविध राज्यों तथा अन्य देशों के आदमियों का आना जाना बहुत रहता है, बहुत से आदमी भिन्न भिन्न आचार-विचार और रहन-सहन वाले होते हैं, उनकी संस्कृति पृथक्-पृथक् होती है, उनके पारस्परिक संसर्ग का परिणाम कानून-भंग होना स्वाभाविक ही है।

धन की अत्यन्त प्रतिष्ठा—अब हम इस सभ्यता की एक और विशेषता का विचार करते हैं, वह है धन को अत्यधिक प्रतिष्ठा दिया जाना। प्रायः देखने में आता है कि आज-कल पैसे वालों का ही आदर मान किया जाता है, सभा सोसायटियों में, पंचायतों में, वार्षिक या अन्य उत्सवों में विशेष पद देने के लिए धनवानों की ही खोज की जाती है। इसलिए बहुत से आदमी जैसे-बने, पैसे-वाले बनने की सोचते हैं। खाद्य पदार्थों में मिलावट करना, असली की जगह नकली या घटिया चीजें बेचना, अथवा डाली भेंट या रिश्वत लेना, आदि अपराध ऐसी दशा में अनिवार्य हैं।

बच्चों की चोरी—यों तो भारतवर्ष में भी बच्चों की चोरी कभी कभी होती रहती है, परन्तु अधिक सभ्यताभिमानी देशों में यह कृत्य खूब बढ़ा चढ़ा है। सन् १९३२ ई० की बात है, कि अमरीका के प्रसिद्ध उड़ाके लिंडवर्ग का १५, १६ मास का शिशु किसी आदमी ने उड़ा दिया। अपराध प्रवृत्ति को नापने के यंत्रों से सुसज्जित और खोज के काम में बहुत कुशल अमरीकन पुलिस उसका कुछ पता न लगा सकी, उधर डाकुओं ने तार और पत्रों द्वारा सूचना दी कि यदि लिंडवर्ग हमें पचास हजार डालर की रकम न दे जायँगे तो बच्चे को हानि पहुंचाई जायगी। दो माह बाद समाचार मिला कि उक्त शिशु का कथित मृत शरीर पिता के घर के अहाते में पत्तियों के ढेर के नीचे पाया गया। ऐसी घटनाएं वहां पिछले एक वर्ष में २७९ हुई हैं।

अत्म-हत्या—वर्तमान काल में आत्म-हत्या की घटनाएं निरंतर बढ़ती जा रही हैं। मनोविज्ञान और प्राणी-शास्त्र के विशेषज्ञों का मत है कि इस का एक मुख्य कारण आधुनिक सभ्यता ही है। इस सम्बन्ध में श्री० डाक्टर रविप्रताप सिंह जी श्रीनेत ने लिखा है कि यह स्वयं सिद्ध है कि सभ्यता के साथ साथ मनुष्य में भावुकता तथा भावों की कोमलता और सज्ञानता की वृद्धि हो रही है। इसके सिवाय समाज का एक ऐसा वातावरण तैयार हो रहा है, जिसमें शान्तिमय जीवन का सर्वथा अभाव-सा दीख रहा है। इस में पड़ कर भावुक मनुष्य छोटी छोटी महत्व-हीन बातों से प्रभावित हो जाता है, और उन्हें आत्म-सम्मान तथा मर्यादा के प्रतिकूल समझ, विक्षिप्त सा हो जाता है। उसे उस समय अपना आत्म-सम्मान रखने के लिए केवल एक ही उपयुक्त राह दीखती है, वह है—आत्म-हत्या।

'सभ्यता पूर्वक' धनापहरण—आधुनिक सभ्यता में धन-तृष्णा पर मानों कोई अंकुश ही नहीं रहा हैं, समाज घुड़-दौड़, सट्टा-फाटका आदि धन-वृद्धि के अनेक ऐसे कार्यों को वैध या उचित समझता है जो नैतिक दृष्टि से घृणास्पद और दूषित माने जाने चाहिए। डा० ग्रिफ्थ ने ठीक ही लिखा है कि धन चूसने वाला और माल चुराने वाला दोनों चोर हैं। कानून उसे चोर मानता है जो समाज को स्वीकृत न होने वाले उपायों से अपनी

स्वाभाविक धन-तृष्णा की वृद्धि करता है। किन्तु यथार्थ चोर वह है जो समाज को जितना देता है उससे अधिक समाज से ले लेता है। समाज अपनी नीति न मानने वाले चोर को तो दंड देता है, परन्तु अपने को हड़पने वाले चोर को नहीं; छोटी-मोटी साधारण चोरियां करने वाले चोरों को जेल में रख कर उनसे चक्की पिसवाता है, लेकिन लाखों की लूट करने वाले डाकुओं को वह दंडित नहीं करता।

इस सभ्यता में धनापहरण वहां तक क्षम्य है, जहां तक कि उसका वहिरूप घृणित न हो; आत्म-निरीक्षण की ओर लोगों का मानों ध्यान ही नहीं है। पुलिस, वकील, गवाह, व्यापारी और दुकानदार सब इस फिकर में रहते हैं कि वे जनता से उस सीमा तक, अधिक से अधिक धन खींच लें, जहां तक कि वे कानून की पकड़ में न आ सकें।

अपराध-वर्द्धक मनोरंजन—आधुनिक सभ्यता में मनोरंजन के नित्य नये साधन उपस्थित किए जा रहे हैं। नाटकघरों के अतिरिक्त आज कल वायस्कोपों और सिनेमा-घरों की खूब वृद्धि हो रही है। जो मनोरंजन ज्ञान-वर्द्धन का, या सद्-भावनाओं की जागृति का कार्य करे, वह तो समाज के लिए बहुत उपयोगी और आवश्यक ही है। कुछ सीमा तक ऐसा मनोरंजन भी क्षम्य है, जो चाहे उपर्युक्त कार्य न करे, परन्तु हो निर्दोष। परन्तु मनोरंजन के जिन साधनों से समाज के शील या सदाचार

को भावनाओं को आघात पहुंचता है, जिन से लोगों के मन में चंचलता, कामुकता, उत्तेजना आदि बढ़ती है, वह कदापि वांछ-नीय नहीं हैं। उस मनोरंजन को यथा-सम्भव नियंत्रित किया जाना चाहिये।

आज कल बायस्कोपों में जो मौन या सवाक् चित्रपट दिखाए जाते हैं, उन के चुम्बन, आलिंगन आदि दृश्यों से अधिकांश युवकों और युवतियों के हृदयों पर बहुत अनिष्टकारी प्रभाव पड़ता है, और दुराचार या व्यभिचार को प्रोत्साहन मिलता है। कुछ विदेशी चित्रपटों में चोरी, डकैती, नारी-हरण या शिशु हरण आदि अपराधों के दृश्य इस शैली से दिखाए जाते हैं कि दर्शकों में कपट, छल, दुस्साहस आदि का भाव उत्पन्न होता है और वे इन अपराधों को करने के लिए नये आधुनिक और विकसित उपाय काम में लाने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं। खेद का विषय है कि इन बातों की गति बराबर बढ़ती जा रही है, और उसे रोकने के लिए विविध देशों में जनता अथवा राज्य समुचित रूप से यत्नशील नहीं हैं।

अस्तु, वर्तमान सभ्यता कई प्रकार के अपराधों के साधनों की वृद्धि कर रही है, समाज-सूत्रधारों को चाहिये कि इसके इस रूप में पर्याप्त परिवर्तन करें, और यह अपने दुर्गणों से मुक्त हो कर केवल लोक-हित साधन करने वाली ही रह जाय।

———

तृतीय खंड

अपराध निवारण

"रोगों का इलाज करने की अपेक्षा, उनका पहले से ही निवारण करना कहीं बेहतर है।"

पहला परिच्छेद

—:०:—

घर का कार्य

"संतति जातीय सम्पत्ति है, और उसके कल्याण में ही देश और जाति का अभ्यूदय है। माता के हाथ में इस अमूल्य सम्पत्ति को सौंप कर देश और समाज यह आशा रखते हैं कि वह उसे लालन-पालन के साथ इस योग्य बना दे कि वह देश और जाति के गौरव को बढ़ाने लायक हो सके। लेकिन यह तब ही हो सकता है जब कि उसकी शिशु एवं किशोर अवस्था में बहुत सावधानी के साथ देख-रेख की जाय।"

—ओंकारलाल बापना

अपराध निवारण का कार्य—कहावत प्रसिद्ध है कि रोगों की चिकित्सा की अपेक्षा उनका निवारण कहीं अच्छा है। इस बात को अपराध-रोग के सम्बन्ध में सम्यग् ध्यान में रखने की आवश्यकता है। जहां तक हो सके इस रोग के कीटाणु उत्पन्न न हों, लोगों की यह प्रवृत्ति ही न हो कि वे समाज-विरोधी कार्य अर्थात् अपराध किया करें। अपराध-निवारण का कार्य अपने

अपने क्षेत्र में निम्नलिखित व्यक्तियों या संस्थाओं को विशेष रूप से करना चाहिए :—

१—घर में, माता पिता आदि द्वारा,

२—शिक्षा संस्था में, शिक्षकों द्वारा,

३—समाज द्वारा, और

४—राज्य द्वारा।

इस परिच्छेद में, घरों में होने वाले कार्य के विषय में लिखते हैं; शेष के सम्बन्ध में आगे क्रमशः विचार किया जायगा।

बाल्यावस्था—नागरिकों की बाल्यावस्था से ही बड़ी सावधानी रखी जानी चाहिए। समय समय पर बालक बालिकाओं के चरित्र-निर्माण की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परीक्षा होनी चाहिए, जिससे उनके स्वाभाव या आदतें उन्हें पीछे अपराधी बनाने में सहायक न हों। जब जरा भी आशंका प्रतीत हो, तत्काल विशेषज्ञ द्वारा उस का समुचित इलाज कराया जाय। युवावस्था में सुयोग्य नागरिक बनने के भावों का यथेष्ट समावेश होता रहे। वे जान लें कि हमारा वास्तविक सुख समाज और राज्य के नियमों के पालन में, तथा उनकी यथा-सम्भव उन्नति करने में है। निस्सन्देह, छोटी अवस्था में प्राप्त शिक्षा आगे जा कर घट बढ़ सकती है, और उसमें सुधार या बिगाड़ भी हो सकता है, परन्तु मनुष्य की अनेक भली बुरी आदतों का अंकुर बाल्यावस्था में ही पड़ चुकता है। इस लिए यह अत्यन्त आवश्यक

है कि बालक बालिकाओं की शिक्षा का आरम्भ से ही यथेष्ठ ध्यान रखा जाय। 'शिक्षा' से हमारा अभिप्राय: केवल पुस्तक-पठन से ही नहीं है, हम यहां इस शब्द का उपयोग व्यापक अर्थ में कर रहे हैं।

माता पिता का उत्तरदायित्व—बच्चों के प्रथम आचार्य या शिक्षक उनके माता पिता ही होते हैं। बहुधा उनकी थोड़ी सी असावधानी या अज्ञान से बालक में बहुत बुरे संस्कार पड़ जाते हैं। यदि वे समझते हैं कि ताड़ना के भय से हम बच्चों को सन्मार्ग पर ले आएंगे तो इसमें उन की बहुत भूल होती है। मां-बाप के क्रोध को देख कर बच्चों को क्रोध करने की आदत पड़ जाती है। जब माता पिता उन्हें, या उनके सामने किसी और को, अप-शब्द कहते हैं तो बालकों को भी आगे-पीछे ऐसा करने की प्रेरणा हो जाती है। मारपीट से बच्चों के ढीठ और निर्लज होने की आशंका होती है। बच्चों को प्रेम और सहानुभूति द्वारा कहीं अच्छी और स्थाई शिक्षा दी जा सकती है, परन्तु इन बातों की भी अति न होनी चाहिये। इनका उपयोग बहुत सोच समझ कर, उचित मात्रा में किया जाना चाहिये। निदान माता पिता को अपने प्रत्येक कार्य व्यवहार में जो वे बच्चों के सन्मुख या उनके सम्बन्ध में करें, बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है।

कुछ विचारणीय उदाहरण—इसे स्पष्ट करने के लिए हम कुछ घटनाओं पर विचार करें। एक बच्चा साधारणतया गिर

जाता है, और रोना-सा मुंह बनाता है। सम्भव है कि यदि कोई उसको ओर ध्यान न दे तो बच्चा भी अपने गिरने की बात आई-गई कर दे। परन्तु प्रायः देखने में आता है कि माता उस ओर ध्यान दे ही देती है। वह उसे गिर जाने के 'अपराध' में मारती है, और क्रोध में उस पर झुंझलाती हुई, कहती है, "अंधा है, आंख फूट गयी, देख कर नहीं चलता।" इत्यादि। बच्चा, गिर जाने में कहां तक दोषी है, और माता के इस व्यवहार का उस पर क्या प्रभाव होगा इसे पाठक स्वयं विचार लें।

अनेक दशाओं में बच्चे के गिर पड़ने पर माता पिता उस वस्तु पर अपना क्रोध उतारने लगते हैं, जिसकी ठोकर खाकर बच्चा गिरा है। यदि बच्चे को दरवाजे की ठोकर लगी है तो उस दरवाजे को पीटा जाता है; यदि और कोई चीज़ नहीं मिलती तो ज़मीन को ही दोषी बताया जाता है और उसे ही मारा जाता है। मनोविज्ञान-हीन माता पिता यह नहीं सोचते कि उनके वैसा करने से वे बच्चे में बदला लेने का भाव भर रहे हैं। क्या आश्चर्य है, यदि वे बच्चे जिन पर ऐसी घटनाओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, भविष्य में 'आंख के बदले आंख' और 'दांत के बदले दांत' लेने की नीति का समर्थन करने वाले बनें। अवश्य ही वे अपराधियों को दंड देना उचित समझा करेंगे और वह भी बदला लेने के भाव से। ऐसी शिक्षा से—चाहे यह अनजान में ही क्यों न हो—बच्चों के बड़े होने पर उनके दयालु और परोपकारी होने की विशेष आशा न की जानी चाहिये।

अब एक दूसरा उदाहरण लें। बालक का पिता बीड़ी पीता है। बालक इस बात को देखता है, वरन् कभी कभी अपने पिता के लिए बीड़ी बाजार से मोल लाकर भी देता है; क्या उसमें बीड़ी पीने की इच्छा होना अस्वाभाविक है? यदि वह अपनी उम्र वाले अन्य बालकों को भी बीड़ी पीते देखे तो उसकी इच्छा और भी बढ़ सकती है। शायद वह पहले चोरी-चोरी पिता की फेंकी हुई झूठी बीड़ियों से काम चला ले। परन्तु यह सर्वथा सम्भव है कि कालान्तर में वह झूठी बीड़ी पसन्द न करने या उनसे यथेष्ट तृप्ति न होने के कारण अपने लिए अलग बीड़ी प्राप्त करने का प्रयत्न करे, अथवा बीड़ी खरीदने के वास्ते पैसा लेना चाहे। और, यदि इस काम में सहज सफलता न हो, माता पिता उसे फटकारें, और पैसे न दें, तो वह क्रमशः चोरी भी करने लगे। धीरे धीरे यह भी हो सकता है कि वह केवल बीड़ियों के लिए पैसा चुराने वाला न रहकर, अपनी अन्य आवश्यकताओं के वास्ते रुपए आदि विपुल धन पर हाथ साफ करने वाला नामी चोर, महान अपराधी, बन जाय।

उपर्युक्त उदाहरण में, बालक को यद्यपि माता पिता ने जान-बूझ कर अपराधी नहीं बनाया है, तथापि यह है तो उनकी ही असावधानी का परिणाम। और, इसका कुफल समाज को ही नहीं, राज्य को भी भोगना पड़ता है।

माता पिता बालक की संगति का ध्यान रखें—माता

पिता को यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि बालक अपने साथ भी भलाई बुराई की कुछ प्रवृत्तियां लाता है, तथापि उसके चहुंओर उत्तम वातावरण रखने से उसकी बुरी प्रवृत्तियों को दबाने और अच्छी को उभारने या बढ़ाने में बहुत कुछ सफलता मिल सकती है। वातावरण को अच्छा या बुरा बनाने में माता-पिता के अतिरिक्त कुटुम्ब के अन्य आदमियों का ही नहीं, नौकर-चाकर तथा पास-पड़ोस के अन्य व्यक्तियों का भी बड़ा भाग रहता है। बहुधा ऐसा होता है कि बालक में ऐसे गुण या दुर्गुण आ जाते हैं जिनका माता पिता में सर्वथा अभाव होता है; इसका कारण अधिकांश में बालक की संगति होती है। अतः माता पिता को इस विषय में बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है कि उनका बालक कैसे आदमियों या बालकों के पास रहता है; जहां तक सम्भव हो उसकी संगति अच्छी रहे, और वह किसी ऐसे व्यक्ति के संसर्ग में न आवे जिसके प्रभाव से उसमें कोई खराब आदत पड़ने या चरित्र बिगड़ने की आशंका हो।

इसके अतिरिक्त, जब बालक पाठशाला में भरती कर दिया जाय, उस समय भी उन्हें इस विषय में सर्वदा निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिए। बालकों की यह अवस्था बहुत नाजुक होती है, इसमें भला बुरा प्रभाव बहुत जल्दी पड़ जाता है। बहुत से आदमियों में, कई एक आदतों का अंकुर इसी अवस्था में जमता है। इस लिए माता-पिता यह ध्यान रखें कि उनका बालक कैसे लड़कों

के साथ पढ़ने जाता है, छुट्टी होने पर वह सीधा घर आता है, या नहीं; यदि कुछ देरी में आता है, या खेलने जाता है, तो यह समय कैसे बालकों में व्यतीत होता है। यही नहीं, बालक पुस्तकें पढ़ने लग जाय तो यह देखते रखने की आयश्यकता है कि वह कैसी पुस्तकें पढ़ता है। उसे समय समय पर कुछ ऐसी पुस्तकों के नाम बता दिए जाने चाहिये तथा ऐसी कथा-कहानियां आदि सुनाई जानी चाहिए, जिनसे उसके आदर्श अच्छे हों, उसमें उच्च, सात्विक आकांक्षाओं और भावनाओं का उदय हो।

एक शिक्षा-प्रद कहानी—इस प्रसंग में हम एक शिक्षा-प्रद कहानी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना उपयोगी समझते हैं। कहते हैं कि एक बालक अपनी अनाथ, गरीब मां का एकलौता लड़का था, बहुत लाड़-चाव से पला था। वह कुछ बड़ा हुआ, तो पास-पड़ौस के घर से एक दिन दो एक मिर्च ले आया। मां ने उसे कुछ न कहा, वरन् उसके कृत्य पर प्रसन्नता प्रकट की। धीरे धीरे बालक औरों की आंख बचा कर घर में तरह तरह की आवश्यक और उपयोगी वस्तुएं लाता रहा। गरीब मां को इस प्रकार कुछ आमदनी-सी होने लग गई। उसने कभी लड़के को समझाने बुझाने की चेष्टा न की। पीछे जब कभी दूसरे आदमी उसके पास उसके लड़के की चोरी की शिकायतें लेकर आते तो भी बजाय इसके कि मां अपने लड़के को कुछ

कहती सुनती, वह उसका पक्ष लेती और शिकायत लाने वालों से लड़ने लगती।

लड़का अपने चोरी के कृत्य में क्रमशः उन्नति करता गया। यहां तक कि स्कूल में जाने पर, वहां भी उसने अपना क्रम जारी रखा, कभी किसी की दवात, कभी कलम या किताब आदि ले आता। उसके शिक्षक ने उसे मारा-फटकारा तो मां उससे लड़ने लगी, कहा, "अजी बालक है, बालक ऐसे काम किया ही करते हैं, तुम उसे समझा सकते हो, मारने धमकाने की कोई जरूरत नहीं। बड़े होने पर सब स्वयं समझ जाते हैं।" शिक्षक ने तंग आकर लड़के को स्कूल से निकाल दिया। लड़के की शिक्षा बन्द हो गई। अब उसे आवारा फिरने का और भी अधिक अवसर मिला। कुसंगति से वह अधिकाधिक खराब होने लगा। चोरों और बदमाशों से, उसने उनका पेशा सीख लिया। वह चोरी और लूट के नये नये कृत्य करने लगा। मां अपने बेटे के साहस से, तथा उसके द्वारा प्राप्त धन से प्रसन्न होती। अन्ततः एक बार डाका डालते वह पकड़ा गया। उस पर चोरी और हत्या का अपराध प्रमाणित हुआ और उसके लिए फांसी का दंड निर्धारित किया गया। फांसी पाने के समय उससे यह पूछे जाने पर कि उसकीअन्तिम इच्छा क्या है, उसने अपनी मां से मिलना चाहा। मां से अन्तिम भेंट करते समय उसने मां का नाक काट लिया, और कहा,'अभागी मां! यदि तू मुझे आरम्भ से कुमार्ग पर जाने

से रोक देती, तो मैं सबके सामने यों अपमानित न होता और मुझे अपने प्राणों से हाथ न धोने पड़ते।'

बालकों के संरक्षक ध्यान दें—क्या बालकों के संरक्षक उपर्युक्त कथन पर यथेष्ट ध्यान देंगे? जिस बालक के भरण-पोषण का उनपर उत्तरदायित्व है, उसके विषय में वे प्रायः केवल भोजन वस्त्र की ही चिन्ता करना पर्याप्त समझते हैं। वे यह नहीं सोचते कि बालक को मानसिक भोजन अच्छा मिल रहा है या बुरा। सम्भव है कि जो बालक संसार के सामने अपराधी के रूप में प्रगट होते हैं, वे बहुधा यह न सोचें कि उनके अपराधी बनाने में उनके संरक्षकों का थोड़ा बहुत, प्रत्यक्ष या परोक्ष भाग अवश्य है; और यह भी ठीक है कि वे उनका उस प्रकार नाक नहीं काटते, जैसा कि ऊपर कहानी में बताया गया है। परन्तु यह तो निश्चय ही है कि जब कोई आदमी दुष्कृत्य करता और अपमानित होता है तो उसके माता पिता ही नहीं, सगे सम्बन्धियों और मित्रों आदि तक की 'नाक-कटो' (बदनामी) होती है। अच्छा हो, प्रत्येक व्यक्ति इस सम्बन्ध में अपने अपने उत्तरदायित्व को समझे और समय रहते इस बात का प्रयत्न करे जिस बालक का उससे सम्बन्ध है, वह यथा-शक्ति कम से कम अपराधी, और उत्तम से उत्तम नागरिक बने।

अमरीका का अनुभव—भारतवर्ष में अपराधियों के सम्बन्ध में जो अंक आदि मिलते हैं, वह ऐसे नहीं होते, जिनसे

अपराध-निवारण की इच्छा रखने वालों को यथेष्ट विचार-सामग्री प्राप्त हो। अमरीका में उनकी जांच-पड़ताल बहुत अच्छी तरह होती है, राज्य के अतिरिक्त अनेक व्यक्ति भी इस विषय में आवश्यक तथा उपयोगी रिपोर्ट और पुस्तकें प्रकाशित कराते हैं। ऐसे एक सज्जन डाक्टर हीली हैं। आपका कथन है * कि जिन युवक अपराधियों के विषय में उन्होंने जांच की, उन में से प्रति चौदह में से केवल एक के घर वालों की परिस्थिति ऐसी थी, जिसमें युवकों की दशा मानसिक और नैतिक दृष्टि से स्वास्थ-प्रद रह सके। उनके विचार से उचित गृहस्थ वह है जहां माता पिता का परस्पर में अच्छा सम्बन्ध हो, कोई अति व्यसनी न हो, जिनमें सम्बन्ध-विच्छेद या तलाक की भावना न हो, वे क्रोधी या झगड़ालू न हों, अति दरिद्र न हों, वे बच्चों की ओर उपेक्षा करने वाले न हों, वे सच्चरित्र और संयमी हो, नशा करने वाले न हों, और उनमें यथेष्ठ अनुशासन हो।

युवक अपराधियों में से चालीस फी सदी ऐसे घरों से आए थे जहां अनुशासन का सर्वथा अभाव था। अपराध के लिए जो बात अकेली ही सबसे अधिक उत्तरदायी है, वह है कुसंगति। ३,००० युवक अपराधियों के सम्बन्ध में विचार किया गया, और यह मालूम हुआ कि ६२ फी सदी कुसंगति के कारण ही अपराधी हुए, यदि अच्छी संगति मिलती तो वे कदापि

*Prisons or Crime-Prevention के आधार पर।

अपराधी न बनते। इस बात का न्यूयार्क की एक जांच से अद्भुत् समर्थन हुआ; वहां की एक सुधार-शाला के ९०० अपराधियों से कुछ प्रश्न पूछे गए थे। उनके उत्तर देते हुए पैंतीस फी सैंकड़ा कैदियों ने अपना यह विश्वास प्रकट किया कि उन के दुराचरण का कारण उनके खोटे साथी थे। यह भी तो घर वालों की दुरवस्था का ही सूचक है। यदि माता पिता अपना कर्तव्य अच्छी तरह पालन करने वाले होते तो वह ऐसी परिस्थिति उत्पन्न न होने देते, वे यह मालूम करते रहते कि उनके बच्चे क्या करते हैं और कैसे मित्रों में रहते हैं। हां, हमारा मतलब उनके, पहरेदारी या चौकसी करने से नहीं है। यह जानने के लिए कि बच्चा क्या करता है, और कैसे वातावरण में समय व्यतीत करता है, यह आवश्यक नहीं है कि माता पिता जासूस हो जायँ। अस्तु, जब तक माता पिता बच्चों की ओर पर्याप्त ध्यान न देंगे, और अपने उत्तरदायित्व का भार स्कूलों, सामाजिक संस्थाओं और अदालतों आदि पर डालते रहेंगे, अपराध निवारण के कार्य में विशेष सफलता नहीं मिलेगी, और अदालतों के विचारार्थ बहु-संख्यक मामले बने रहा करेंगे।

ये बातें कितनी अनुभव-सूचक है, और माता पिता को इन पर कितना ध्यान देना चाहिये, इसके लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं है।

दूसरा परिच्छेद

—:o:—

शिक्षा का प्रभाव

"देश की वर्तमान शिक्षा प्रणाली—जिसमें केवल बुद्धि की शिक्षा और उसके विकास पर ही जोर दिया जाता है—सदाचार की उन्नति के लिए पर्याप्त नहीं है।"

—बुद्धिसागर वर्मा

इस परिच्छेद में हम यह विचार करना चाहते हैं कि स्कूलों में बालकों की शिक्षा कैसी होनी चाहिए, जिससे अपराध निवारण में सहायता मिले, तथा वर्तमान अवस्था में स्कूलों की शिक्षा में इस ओर कहां तक ध्यान दिया जाता है, और इसमें क्या सुधार आदि करने की आवश्यकता है।

शिक्षा कैसी होनी चाहिए?—प्राय: यह समझा जाता है कि शिक्षा अपराधों को घटाने का काम करती है, एक स्कूल खोलना एक जेलखाने को बन्द करने का सर्वोत्तम उपाय है। परन्तु यह बात पूर्ण सत्य नहीं है। इसका दूसरा पहलू भी

है। शिक्षा का अपराधों पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका विचार करने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि शिक्षा पद्धति अच्छी है या बुरी। शिक्षा बुरी भी हो सकती है। यदि शिक्षा हमें सदाचारी स्वावलम्बी और संयमी रहना, समाज के प्रति यथेष्ट कर्तव्य पालन करना, सामाजिक जीवन में अपना उत्तर-दायित्व समझना सिखाती है तो अवश्य ही वह हमारा कल्याण करने वाली होगी, वह देश में अपराधों की संख्या और मात्रा घटाने में सहायक होगी। परन्तु यदि इसके विपरीत, शिक्षा पाकर हम शौकीन, आडम्बर-प्रिय हो जाते हैं या विलासिता का जीवन बिताने लगते हैं, शारीरिक श्रम की महत्ता नहीं समझते, अपनी आवश्यकताएं बढ़ा लेते हैं, यहां तक कि हम भरसक प्रयत्न करने पर भी उनकी पूर्ति नहीं कर पाते, तो ऐसी शिक्षा का परिणाम यही होगा कि हममें तरह तरह के छल-कपट, धोखेबाजी, बेईमानी आदि दुर्गुण आ घुसेंगे। और, अन-पढ़ों की अपेक्षा हम कहीं अधिक मार्ग-भ्रष्ट होंगे। हां, इतना अन्तर अवश्य होगा कि जहां वे लोग चोरी आदि की क्रियाएं प्रत्यक्ष और 'गंवारू' ढंग से किया करते हैं, हम 'सभ्यता-पूर्वक' करेंगे। हम झूठ तो बोलेंगे, परन्तु जहां तक हमारी मानसिक योग्यता की पहुँच है, हम इस बात का भरसक प्रयत्न करेंगे कि हमारा झूठ किसी की 'पकड़' में न आसके। हमारे शब्दों का प्रयोग चातुर्य और वाग्जाल पूर्ण होगा।

यद्यपि कुछ शिक्षा प्राप्त करना समाज और राज्य के

प्रत्येक व्यक्ति के लिए बहुत ही आवश्यक है, यह नहीं होना चाहिये कि शिक्षा से हमें केवल कुछ लिखना पढ़ना आ जाय, कुछ वस्तुओं, नगरों, घटनाओं आदि के नाम कंठस्थ कर लिए जायं, जो केवल मानसिक व्यायाम का काम दे, और वह भी आवश्यकता से कहीं अधिक। शिक्षा संस्थाएं व्यापक अर्थ में शिक्षा देने वाली होनी चाहिये, उनसे हमारी शारीरिक और मानसिक के अतिरिक्त नैतिक उन्नति भी यथेष्ट हो। हम पाशविक प्रवृत्तियों का नियंत्रण करने वाले हों, हम न केवल स्वयं अपराध न करें, वरन् दूसरों को भी सन्मार्ग पर लाने में सहायक हों।

आधुनिक शिक्षा पद्धति—क्या हमारी अधुनिक शिक्षा इस प्रकार की है? क्या हम शिक्षा पाकर अधिक सदाचारी, संयमी, त्यागशील, परोपकारी बनते हैं? क्या शिक्षित व्यक्ति केवल इस आधार पर सद्गुण-सम्पन्न कहे जा सकते हैं, कि उनमें से जेलों में कम पहुंचते हैं? जब हम किसी वकील, डाक्टर, मुन्शी, मोहर्रिर आदि शिक्षित व्यक्ति को लोभी लालची, रिश्वतखोर आदि देखते हैं, तो मन में अनायास यह बात आ जाती है कि शिक्षा पाकर ये अधिक दुर्गुणी ही हुए हैं; सम्भव था कि यदि ये शिक्षित न होते तो इनमें इतने दोष न होते, अथवा कम से कम इतनी मात्रा में, या इस ढंग के न होते।

बात यह है कि आधुनिक शिक्षा बुद्धि-विकास पर आवश्यकता से अधिक जोर देती है। और, बुद्धि स्वयं कोई अच्छी चीज़

नहीं है; यह तो एक शक्ति मात्र है, जिसके द्वारा अच्छे कार्य में सहायता मिल सकती है तो बुरे काम भी अधिक संख्या में, तथा अधिक सफाई और सफलता से हो सकते हैं। इस दृष्टि से आधुनिक शिक्षा प्रणाली बहुत विफल रही, कही जा सकती है।

शिक्षा प्रचारकों के ध्यान देने की बात—इसलिए किसी व्यक्ति को केवल इस बात से संतुष्ट न हो जाना चाहिए कि उसके नगर या देश में शिक्षा संस्थाओं की, और उनमें शिक्षा पाने वाले बालक बालिकाओं की, संख्या बढ़ रही है, अथवा शिक्षा-कार्य में होने वाले व्यय की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। अन्यान्य बातों की तरह शिक्षा सम्बन्धी अङ्क और रिपोर्ट भी बहुधा धोखा देने वाली हो सकती हैं। यदि शिक्षा संस्थाओं के लिए बड़े-बड़े भवन बनाने और अन्य टीप-टाप में खूब खर्च होने लग गया तो इसमें राष्ट्र के अभिमान करने योग्य कोई बात नहीं; हो सकता है, यह अपव्यय हो, जिसके न किए जाने से दूसरा हितकर कार्य हो जाता। नहीं, यदि सौ की जगह डेढ़ सौ संस्थाएं हो गईं, दस हजार की जगह पन्द्रह हजार विद्यार्थियों के नाम रजिस्टर में दर्ज हो गए, अथवा एक विद्यार्थी की पाठ्य पुस्तकों का औसत वजन सेर भर की जगह दो सेर हो गया तो भी इसमें उन्नति की क्या बात है! मुख्य विचारणीय विषय तो यह होना चाहिए कि पढ़-लिख कर जो युवक इन संस्थाओं से निकलते हैं, वे कितने निर्दोष, सदाचारी, समाज-सेवी और राष्ट्र-

भूषण होते है; अथवा, एक लड़का जिसे कुछ समय स्कूल में रहने का सुअवसर मिला है, वह अपनी उम्र के दूसरे लड़के से सामाजिक जीवन में कितना अधिक योग्य प्रमाणित होता है।

वर्तमान अवस्था में शिक्षकों का विशेष उत्तरदायित्व—माता पिताओं के अज्ञान, तथा उनकी अपने बालकों को सुधारने की ओर उदासीनता धारण करने की अवस्था में शिक्षा संस्थाओं का कार्य भार और भी बढ़ जाता है। अनेक स्थानों में बालकों की शिक्षा का जो आधार-भूत कार्य घरों में हो जाना चाहिए, वह वहां नहीं होता। मां-बाप अपने अपने कार्य-भार से दबे होने या अन्य कारणों से बालकों की उपेक्षा करते हैं; यही नहीं, वे उन्हें अपने पास से हटाने के लिए स्कूलों में भेज देते हैं। इस दशा में बालकों के सम्बन्ध में शिक्षकों का दायित्व और अधिक हो जाता है। मां-बाप ने उनकी सार-संभार को बेगार समझ कर, उन्हें स्कूलों में भेज कर कुछ अंश में मुक्ति पाई। अब, यदि शिक्षक वर्ग भी उनको केवल कुछ पुस्तकें पढ़ाकर अपना फर्ज़ पूरा हुआ समझ लें, तो फिर इन भावी नागरिकों का चरित्र-निर्माण का कार्य राम-भरोसे ही रह जाता है; और इनकी त्रुटियों, मानसिक निर्बलताओं, और नैतिक हीनताओं का कुफल समाज और राज्य को भोगना पड़ता है।

वास्तव में शिक्षकों का कार्य विद्यार्थियों को स्कूल के पांच छः घंटों में विविध पाठ्य विषय पढ़ा देने से ही पूरा नहीं हो जाता।

उन्हें इस बात की ओर समुचित ध्यान देना चाहिए कि उनके पास पढ़ने वाला विद्यार्थी स्कूल के घंटों के अतिरिक्त दूसरे समय में क्या करता है, किनके साथ रहता है, क्या खेलता है, उसकी कैसी रुचि, स्वभाव और आदतें हैं। निदान अध्यापक को अपने विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का यथेष्ठ अध्ययन करते रहना चाहिए, जिससे उसमें किसी प्रकार का विकार प्रवेश न करने पाए।

यह कहा जा सकता है कि आज कल एक एक अध्यापक कई कई कक्षाओं को विविध विषय पढ़ाता है; और इस प्रकार कोई अध्यापक अपने सब विद्यार्थियों से यथेष्ट रूप में परिचय प्राप्त नहीं कर सकता। इसका उपाय, जैसा कि कुछ स्थानों में हो भी रहा है, यह है कि चाहे जितने अध्यापक किसी कक्षा को क्यों न पढ़ावें; प्रत्येक कक्षा के विद्यार्थियों का एक शिक्षक से विशेष सम्बन्ध रहे। उनका कक्षा-अध्यापक ('क्लास टीचर') कहने से उसका ही बोध हो; और वह उस कक्षा के प्रत्येक विद्यार्थी को पृथक् पृथक् व्यक्तिगत रूप से जानने, समझने, और सन्मार्ग पर रखने का विशेष रूप से प्रयत्न करता रहे। [इसके लिए अध्यापकों को उचित वेतन तथा पुरस्कार आदि दिया जाना चाहिए।]

अस्तु, शिक्षक महानुभाव अपने महान् उत्तरदायित्व का विचार कर, अपने कर्तव्य का यथावत पालन करें, तभी नागरिकों तथा राज्य का कल्याण हो सकता है।

शिक्षा प्रणाली में सुधार की आवश्यकता—योरप अमरीका के उन्नत से उन्नत राष्ट्रों के भी विचारशील सज्जन अपने यहां की प्रचलित प्रणाली से नितान्त असन्तुष्ट जान पड़ते हैं। वे इसकी असंदिग्ध शब्दों में तीव्र आलोचना या निन्दा करते हैं। उनकी बातें उपेक्षा के योग्य नहीं, उनके प्रमाण अकाट्य हैं। जब यह बात उन्नत राष्ट्रों की ठहरी, तो अन्य देशों की शिक्षा पद्धति के विषय में कहना ही क्या! बड़ी आवश्यकता है कि प्रत्येक देश में एक स्थाई कमेटी इस बात की जांच पड़ताल के लिए रहा करे कि जो शिक्षा प्रणाली वहां प्रचलित है, वह कहां तक अपना उद्देश्य सिद्ध करती है, और नागरिकों को सुयोग्य, सदाचारी, संयमी बनाने में सहायक है; इसमें क्या क्या सुधार या परिवर्तन किए जाने की आवश्यकता है। एक एक देश की ऐसी कमेटी अपने यहां की स्थानीय परिस्थिति का विशेष ध्यान रखे तथा समय समय पर अन्य देशों की ऐसी कमेटियों के सहयोग से भी यथा-सम्भव लाभ उठाने का प्रयत्न करती रहे। इस प्रकार हमें उस समय तक निश्चिन्त न बैठना चाहिए जब तक हमारी शिक्षा प्रणाली हमें अधिक से अधिक सुयोग्य नागरिक देने वाली न हो।

शिक्षा प्रणाली और शारीरिक दंड—शिक्षा सुधार और प्रचार के लिए यथेष्ट धन खर्च किया जाना चाहिये। कई बातें ऐसी भी हैं, जिनमें धन का प्रश्न उपस्थित नहीं होता; तनिक

नवीन दृष्टि-कोण से देखने की आवश्यकता होती है। उदाहरण-वत् बहुत से आदमी समझते हैं कि बालकों को जितनी ताड़ना दी जाय, जितना उनकी डांट-डपट की जाय, जितना उनसे कम बोला जाय और उन पर अधिक आतंक जमाया जाय, उतना ही अच्छा। वे लोग बात बात में बेंत थप्पड़ और घूंसों के प्रयोग के पक्ष में होते हैं और समय समय पर नवीन दंडों का आविष्कार करते रहते हैं। लड़का स्कूल में देर से आया तो दंड, उसके कपड़े मैले हैं तो दंड, उसके पास आवश्यक पुस्तकें आदि पाठ्य सामग्री नहीं है, तो दंड। यह नहीं सोचा जाता कि इन बातों में लड़के का दोष वास्तव में है या नहीं, और यदि है तो कितना। फिर, यह तो और भी दूर की बात रही कि इन दंडों से बालकों का कुछ सुधार होगा या नहीं। इस व्यवहार से विद्यार्थी मास्टर को एक भयंकर, प्रेम-शून्य प्रबन्धक समझने लगते हैं, और यह कहना भी अत्युक्ति न होगी कि हम अपनी पुलिस और जेलर आदि स्कूलों में तैयार करते हैं, और विद्यार्थियों को इनके कार्यों की शिक्षा देने वाले हमारे अध्यापक-गण ही होते हैं,

मनोविज्ञान की स्पष्ट सूचना है कि भय से बुद्धि का विकास नहीं होता, बालकों को कुछ बातें कंठस्थ भले ही कराई जा सकें, परन्तु वे उनके ज्ञान का सम्यग् अङ्ग नहीं बन सकतीं। इसके विपरीत, प्रेम द्वारा जो शिक्षा मिलती है, वह आसानी से ग्रहण की जाती है, और अधिक समय तक अपना प्रभाव बनाए रखती

है। उसकी जल्दी विस्मृति नहीं होती। शिक्षकों को ये बातें निरंतर ध्यान में रखने की जरूरत है। उन्हें अपनी वाणी व्यवहार और आदर्श से बालकों को सच्चरित्र, कर्तव्य-परायण, परोपकारी और सेवा-भाव-युक्त बनाना चाहिये। वास्तव में जो अध्यापक बात बात में बालकों को धमकाता, डराता या दंड देता है, वह इस बात का जीता-जागता सबूत देता है कि उस के पास युक्ति, प्रेम आदि अन्य आवश्यक साधनों का दिवाला निकला हुआ है, और वह इस योग्य नहीं है कि बालक जैसे सुकुमार यंत्र उसको निश्चिन्तता-पूर्वक सौंपे जा सकें।

विद्यार्थियों की प्रतिष्ठा—भारतवर्ष आदि बहुत से देशों में विद्यार्थियों की कुछ मान-प्रतिष्ठा नहीं होती। खेद का विषय है कि बिना परिश्रम उपार्जित पैत्रिक धन के स्वामी बने हुओं की, दान धर्म पर मौज उड़ाने वालों की, सरकारी पदाधिकारियों की, तथा अन्य विविध श्रेणियों के व्यक्तियों की तो इतनी इज्जत हो, और भावी नागरिक जिन पर देश का भविष्य निर्भर है, कुछ आदर सम्मान के अधिकारी न समझे जायँ। जिन बालकों को घरों में मां बाप झिड़कते रहे, और जिन पर स्कूलों में मास्टरों की सदैव भृकुटि चढ़ी रहे, वे बड़े होकर आत्म-सम्मान के भाव से प्रायः शून्य हों, तो क्या आश्चर्य !

सभ्य और समझदार आदमी या राष्ट्र ऐसा नहीं होने देते। वे अपने हानि लाभ का विचार करके दूरदर्शिता से काम लेते हैं।

उदाहरणवत् जर्मनी में अपराधी विद्यार्थियों की भी प्रतिष्ठा होती है। किसी अभियोग के कारण वे साधारण न्यायालय में विचारार्थ उपस्थित नहीं किए जाते। अभियोग यूनिवर्सिटी के अधिकारियों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। वे उचित न्याय कर अपराधी को 'दंड' देते हैं। इस बात का सम्यग् ध्यान रखा जाता है, इस दंड से विद्यार्थी को कोई कष्ट न हो; नहीं, नहीं, उसे अपने रोजमर्रा के साधारण कार्यों और मनोरंजन आदि में भी कोई असुविधा न हो। अपराधी अपने दंड-काल में भी दूसरों की सहानुभूति और सहायता का पूर्णतः अधिकारी रहता है; फिर उसकी अप्रतिष्ठा तो हो हो कैसे सकती है! क्या अन्य स्थानों के शिक्षा-प्रेमी इस विषय पर यथेष्ट ध्यान देंगे?

शिक्षक और संरक्षक—वर्तमान अवस्था में विद्यार्थियों के शिक्षकों और संरक्षकों का परस्पर में मिलना जुलना बहुत ही कम होता है। शिक्षक तो संरक्षकों के पास जाना अपनी शान के खिलाफ़ समझते हैं। संरक्षकों को जब कभी कुछ शिकायत फरयाद करनी होती है, अथवा छुट्टी या कक्षोन्नति आदि सम्बन्धी कुछ विशेष कार्य होता है, तब ही वे शिक्षकों से मिलना पसन्द करते हैं। दोनों यह भूल जाते है कि उनका एक ही लक्ष्य और एक ही उद्देश है, अर्थात् विद्यार्थी को उत्तम नागरिक बनाना। यह कार्य ऐसा है, जिसमें दोनों के सम्यग् सहयोग की आवश्यकता है, प्रत्येक को अपने अपने क्षेत्र के अनुसार उद्योग करना चाहिये, और एक

दूसरे की यथा-सम्भव सहायता करनी चाहिए। तभी विद्यार्थी का भावी जीवन निर्दोष, निष्कलंक और निरपराध होने में सहायता मिलेगी।

यदि शिक्षक किसी विद्यार्थी के संरक्षकों को जानता है, और दोनों समय समय पर मिलते रहते हैं तो विद्यार्थी में होने वाले बहुत से दोष होने ही नहीं पाते। वह बिना कारण शिक्षा संस्था से अनुपस्थित नहीं रहेगा। वह अपना काम अच्छी तरह करेगा। उसे यह विचार रहेगा, कि शिक्षक, उसके माता-पिता से उसकी प्रशंसा ही करे; बुराई करने का अवसर न दिया जाय।

उत्तरदायित्व द्वारा चरित्र-निर्माण—बहुधा हमें नटखट और शरारती लड़कों से वास्ता पड़ता रहता है, परन्तु उनके लिए हमारे पास क्या होता है? जुर्माना, बेंत की सजा, और अन्त में उसका स्कूल की दुनिया से कालापानी। इन बातों से उसका सुधार नहीं होता, अन्ततः हम अपनी पराजय चाहे जैसी छिपाएँ वह सबके सामने दृष्टि-गोचर होकर रहती है। क्या ही उत्तम हो, यदि ऐसे विद्यार्थी की प्रकृति का ठीक अध्ययन करके उसे कोई ऐसे उत्तरदायित्व का कार्य क्रमशः सौंपा जाय जो उसे रुचिकर हो। कहा है कि स्वाधीनता ही मनुष्य को स्वाधीनता के योग्य बनाती है। जो आदमी यह समझते हैं कि उत्तरदायित्व के योग्य हुए बिना किसी को कोई महत्व-पूर्ण कार्य न सौंपा जाय, वह भ्रम में हैं। उनकी धारणा ऐसी ही है कि तैरना आने

से पूर्व किसी को पानी में न घुसने दिया जाय। अस्तु, यदि सोच समझ कर नटखट लड़कों में कुछ उत्तरदायित्व का भाव उत्पन्न कर दिया जाय, तो उनका विलक्षण कायापलट होने की सम्भावना है। जिन पाठकों ने लार्ड क्लाइव आदि का जीवन-चरित्र देखा हो, उन्हें यह तत्व समझाने की विशेष आवश्यकता नहीं।

प्रौढ़ शिक्षा और अपराध निवारण—अपराध निवारण की ओर प्रारम्भिक शिक्षा के समय से ही ध्यान रखा जाना चाहिए; और प्रौढ़ शिक्षा के समय भी इसकी विस्मृति न होनी चाहिए। कालिजों और महाविद्यालयों के शिक्षक विद्यार्थियों के मस्तिष्क में कुछ गहन विषयों की बातें भर देने मात्र से संतुष्ट न हों। यदि उन संस्थाओं से डिप्लोमा या डिगरी प्राप्त किए हुए आदमी सच्चरित्रता, स्वार्थ-त्याग, और सेवा भाव आदि में औरों के लिए अच्छा आदर्श नहीं रखते, तो शिक्षकों के लिए यह अप-यश की बात है।

पुनः यह भी कहां तक ठीक है कि इन विद्वान शिक्षकों का कार्य-क्षेत्र एक निर्धारित संस्था में ही परिमित रहे? क्या सार्व-जनिक जीवन में, सर्वसाधारण को उनसे कुछ लाभ न उठाने देना चाहिए। यदि ये वास्तव में उच्च विचार और आदर्श चरित्र व्यवहार वाले हैं, जैसा कि इन्हें होना चाहिए, तो उनकी सेवा और सहयोग से, उनके लेखों तथा सार्वजनिक भाषणों आदि से, नगर-

निवासियों को अपना जीवन सुधारने का अवसर क्यों नहीं दिया जाना चाहिये ! प्रत्येक शिक्षा संस्था अपना निर्दिष्ट कार्य करने के अतिरिक्त, नागरिक जीवन को उन्नत करने का ध्यान रखे, तो राष्ट्रों की अपराध-निवारण की समस्या सहज ही हल होने लगे।

धर्म और विश्व-बन्धुत्व की शिक्षा—आधुनिक शिक्षा पद्धति में जो सुधार किए जाने चाहिये, उनका कुछ उल्लेख पहले किया जा चुका है। यहां हमें एक विशेष बात की ओर ध्यान दिलाना अभीष्ट है। अनेक स्थानों में इस विषय पर मतभेद और वाद-विवाद होता है कि विद्यार्थियों को धार्मिक शिक्षा दी जाय या नहीं। यदि विचार करने वाले सज्जन 'धर्म' की ठीक कल्पना करलें तो यह विवाद ही न रहे। वास्तव में 'धर्म' किसे कहा जाना चाहिये, इस विषय में हम अपना विचार पहले प्रगट कर चुके हैं। वर्तमान काल में शिक्षा संस्थाओं में या तो धार्मिक शिक्षा दी ही नहीं जाती, अथवा यदि दी जाती है, तो प्रायः ऐसी होती है, जिसे 'धार्मिक शिक्षा' मानने से 'धर्म' का अर्थ अत्यन्त संकुचित, और अनुदार हो जाता है।

"धर्म और अपराध" शीर्षक परिच्छेद में हम जो विचार व्यक्त कर आए हैं, उनसे स्पष्ट है कि साम्प्रदायिक या मत-मत्तान्तर का भेद-भाव बढ़ाने वाली, अथवा धर्म के नाम पर अन्ध-विश्वास या परम्परागत रूढ़ियों में श्रद्धा उत्पन्न करने वाली शिक्षा तो सर्वथा त्याज्य है। परन्तु ऐसे नैतिक और आध्यात्मिक

विचार प्रदान करने वाली शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है जो विविध धर्मों में सर्वमान्य, और समस्त मनुष्यों के लिए समान रूप से उपयोगी और हितकर हो। विद्यार्थियों को यह भली भांति हृदयंगम कराया जाना चाहिए कि सब मनुष्य (एवं अन्य प्राणी) एक परम पिता की सन्तान है, सब परस्पर में भाई बन्धु हैं, किसी एक की चोरी करना, या किसी को मारना, या अन्य हानि पहुंचाना वास्तव में अपने आपको हानि पहुंचाना है। दूसरों की उन्नति करने में हमारा भी विकास और उत्थान है।

यदि प्रत्येक देश के नागरिकों को युवावस्था में उपर्युक्त भावों की सम्यग् शिक्षा मिल जाय तो संसार में सुख शान्ति कितनी अधिक हो, अपराधों की कितनी कमी हो जाय! एक मुसलिम युवक को यह शिक्षा मिलनी चाहिए कि हिन्दू पार्सी, बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि भी उसके भाई बन्धु हैं; वह अपने व्यवहार में इस ज्ञान का परिचय देगा, तभी वह धार्मिक मुसलमान है। एक अङ्गरेज़ या जर्मन को यह हृदयंगम कराया जाना चाहिए कि उसके भ्रातृ-भाव का क्षेत्र इंगलैंड या जर्मनी के निवासियों तक परिमित रहना अत्यन्त अज्ञान और मूर्खता की बात है। गौर-वर्ण जातियों के मनुष्यों को जानना चाहिए कि काले और पीले आदमियों को उत्पन्न करने वाला परमात्मा कोई दूसरा नहीं, वही है, जिसे वे (गौर-वर्ण मनुष्य) परम पिता कहते हैं; भले ही भिन्न भिन्न

जातियों में परमात्मा के अथवा उसके अवतारों या पीर पैगम्बरों के नाम जुदा जुदा क्यों न हों। फिर हिन्दू और मुसलमानों का, या इङ्गलैंड और जर्मनी आदि का वैर विरोध क्यों? इन जातिगत या राष्ट्रीय लड़ाइयों का अन्त होना चाहिये। हमारा बंधुत्व क्षुद्र सीमाओं में न रह कर विशाल मानव परिवार तक विस्तृत होना चाहिए। [हां, पशु पक्षियों को भी उसके क्षेत्र से बाहर क्यों रखा जाय, वे भी तो उसी परमात्मा की सृष्टि हैं, जिसे हम परम पिता करते हैं।] इस विषय पर बहुत कुछ कहा जा सकता है, परन्तु विस्तार-भय से अधिक नहीं लिखा जाता। हमारा आशय इतने से ही ग्रहण किया जा सकता है। अस्तु; धर्म और विश्व-वन्धुत्व की ऐसी शिक्षा की, प्रत्येक देश के गांव गांव और नगर नगर में, समुचित व्यवस्था हो, तो हम यह दावे के साथ कह सकते हैं, कि अपराधी संसार का विलक्षण काया-पलट हो जाय, अपराध-निवारण में अभूत-पूर्व सफलता मिले।

तीसरा परिच्छेद

—:o:—

समाज का कर्तव्य

"बड़े आदमी ऐसे उत्तेजक कार्य करें ही क्यों, जिनका छोटों पर बुरा प्रभाव पड़े और वे बहक कर अपराध करने को मजबूर हो जायँ ? वे लोग त्याग और सादगी का ऐसा जीवन क्यों न बिताएं जो स्वयं उनके लिए और उनके पड़ौसियों तथा नौकर चाकरों के लिए एक निष्पाप और कल्याणकारी आदर्श उपस्थित कर सके।"

हम पहले बता आए हैं कि मनुष्य बहुत से अपराध अपनी सामाजिक परिस्थिति के कारण किया करते हैं; समाज के रीति-रस्म, नियम व्यवहार से वे ऐसे कार्य करने को बाध्य हो जाते हैं, जिनके परिणाम-स्वरूप उन्हें पीछे समाज (या राज्य) में कलंकित होना पड़ता है।

समाज का रीति-रस्म सम्बन्धी कर्तव्य—समाज को चाहिये कि उन मूल कारणों को दूर करे, जिनसे अपराध होने

अनिवार्य हैं। उसे समय समय पर प्रचलित रीति रस्मों की जांच करनी चाहिये और जहां कोई बात नागरिकों को किसी प्रकार के अपराध की प्रेरणा करने वाली मालूम हो, उसका तुरन्त सुधार और संशोधन करना चाहिये। उदाहरणवत् समाज-सूत्रधारों को स्मरण रखना चाहिये कि साधारणतया विवाह-योग्य आयु के प्रत्येक पुरुष को स्त्री की, तथा स्त्री को पुरुष की आवश्यकता होती है। इस लिए किसी व्यक्ति के मार्ग में कोई अनुचित, आर्थिक, या अन्य प्रकार की रीति रस्म सम्बन्धी वाधा उपस्थित न की जानी चाहिये। यही नहीं, समाज इतने भागों में विभक्त न होना चाहिए कि विवाह के लिए कन्या या वर के निर्वाचन का क्षेत्र अत्यन्त परिमित हो जाय, और बे-मेल, इच्छा या रुचि विरुद्ध विवाहों से भावी गृहस्थों का जीवन संकटमय हो जाय। समाज का उद्देश्य अपने व्यक्तियों का हित-साधन करना है। उसे चाहिए कि उनकी विविध आवश्यकताओं को मर्यादा में रखते हुए उनकी पूर्ति में सहायक हो; जिससे लोगों को अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए अपराध न करने पड़ें। अनाथों, अपाहजों और निर्धनों आदि का यथेष्ट ध्यान रखा जाना आवश्यक है।

अनाथ बालकों के लिए सहायक संस्थाएं—यह स्पष्ट है कि निर्धन अनाथ लावारिस बच्चों के बड़े होने पर अपराधी बनने की बहुत सम्भवना रहती है। अतः ऐसी व्यवस्था रहने

की आवश्यकता है कि ये बच्चे प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों के पास, उनके निरीक्षण में रहें, अथवा ऐसी संस्थाएं हों जहां इन्हें अच्छा शिक्षण मिले, और इनकी यथेष्ट नैतिक उन्नति भी हो। इन बालकों के अभिभावक इनकी प्रकृति आदि का समुचित अध्ययन करें, और इनमें उच्च भावनाओं का विकास करने के लिए इनके सामने अच्छे अच्छे उदाहरण रखें, इन्हें स्वावलम्बन का उपदेश और शिक्षा दें। यह कार्य त्याग और परिश्रम चाहता है, परन्तु प्रत्येक समाज में खोजने पर कुछ व्यक्ति लोक-सेवा के ऐसे कार्य का भार लेने वाले मिल सकते हैं। पाश्चात्य देशों में इसका कई स्थानों पर प्रयोग किया जा रहा है, और वह पर्याप्त रूप से सफल भी हुआ है। भारतवर्ष में भी जहां तहां अनाथालय हैं। आवश्यकता है कि उनके कार्यकर्ता मनोविज्ञान-वेत्ता तथा सेवा-भाव-सम्पन्न हों। वे यह अच्छी तरह जानते हों, तथा अपने इस ज्ञान से संस्था को लाभ पहुंचाते हों, कि किस बालक की ओर कितना और किस प्रकार ध्यान देने से वह अच्छा नागरिक बन सकेगा।

निर्धन आदमियों के लिए संस्थाएं—बालिगों तथा बड़ी उम्र के आदमियों में से कुछ पर समय समय पर ऐसा संकट आ जाता है जब वे बेकार तथा साधन-हीन हो जाते हैं, उनके पास अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए द्रव्य नहीं होता, और कोई मित्र, पड़ौसी या रिश्तेदार उनका सहायक नहीं होता। यदि समय पर इन्हें कुछ आश्रय न मिले तो ये अपराध-मार्ग में

सहज ही अग्रसर हो जायंगे। समाज को चाहिये कि ऐसे व्यक्तियों के लिए भी समुचित व्यवस्था करे। उनके रहने के स्थान तथा भोजनादि का प्रबन्ध हो। उनके लिए काम सिखाने वाली या उनसे काम लेकर उनके यथेष्ट निर्वाह की योजना करने वाली संस्थाएं होनी चाहिये, जिन्हें राज्य की ओर से भी यथेष्ट प्रोत्साहन तथा आर्थिक सहायता मिले। इन संस्थाओं में जाति पांति या स्थानादि का भेद भाव न रखा जाय; केवल यह लक्ष्य रखा जाय कि जिस व्यक्ति को जितनी सहायता की आवश्यकता है, उतनी ही उसको मिलती है, उसका दुरुपयोग तो नहीं होता।

बड़े नगरों में प्रायः ऐसे निर्धन आदमियों का भी जाना आना लगा रहता है, जिनका वहां अपना घर नहीं होता, और बहुधा कोई परिचित व्यक्ति भी नहीं होता। इनके लिए समाज की ओर से स्नानालय, विश्रामालय, अल्प मूल्य पर भोजन देने वाले होटल, निश्शुल्क वाचनालय, पुस्तकालय आदि पर्याप्त संख्या में होने चाहिये।

सामाजिक व्यवहार; जाति वहिष्कार—यहां पर उस व्यवहार का भी विचार कर लेना आवश्यक है, जो समाज अपराधियों के साथ किया करता है। हिन्दुओं में बहुधा जब कोई आदमी ऐसा कार्य करता है, जो समाज की दृष्टि से अपराध हो, तो उसे कुछ दान-पुण्य करने, तीर्थ यात्रा

करने, अथवा ब्राह्मण-भोजन या जाति-भोजन कराने या विरादरी को कुछ नकद रूपया देने का दंड दिया जाता है। धनी व्यक्ति इन बातों को सहज ही कर सकता है, निर्धन को बड़ी कठिनाई होती है।* जब अपराधी इस दंड को अमान्य करता है, अथवा जब उसका अपराध बहुत भारी समझा जाता है, तो कुछ जाति विरादरियों में उसे जाति-बहिष्कृत करने की रीति है। प्राचीन काल में जब कि समाज में आज-कल की सी विषमता नहीं थी, धनी निर्धन सब समान दृष्टि से देखे जाते थे, और पंच निष्पक्षता, उदारता और त्याग-भाव से काम करने वाले होते थे, वहिष्कार-नीति चाहे जैसी उपयोगी रही हो, परन्तु इस समय तो इसका भयंकर दुरुपयोग ही हो रहा है। समाज ऐसी हीनावस्था को पहुंच गया है, कि बलवानों और धनवानों पर उसका कुछ जोर नहीं रह गया है, और वह अपना यह अस्त्र दुर्बलों और निर्धनों पर ही चलाता है, और आवश्यकता से कहीं अधिक चलाता है, अर्थात् एक अपराध में न केवल उस अपराध करने वाले को, वरन् उसके सगे सम्बन्धियों और रिश्तेदारों को भी दंडित करता है; यही नहीं, कभी कभी तो वह उससे सहानुभूति रखने वाले तथा उसके समान विचार रखने वालों को भी अपने अस्त्राघात से मुक्त नहीं रखता। इस प्रकार समाज के दंड विधान का क्षेत्र

* ये सब बातें आर्थिक दंड के ही विविध रूप हैं। राज्य की ओर से किए जाने वाले जुर्माने के विषय में पहले विचार किया जा चुका है, इनके सम्बन्ध में भी बहुत कुछ वही वक्तव्य लागू होता है।

बेहद बढ़ गया। इसका लक्ष्य लोगों के आचार व्यवहार पर अनावश्यक बन्धन लगाना हो गया, यह विचार-स्वातंत्र्य का घातक बन गया। अन्ततः अब यह अस्त्र कुंठित हो गया है। जनता पर इसका बहुत कम प्रभाव पड़ता है, आदमी इसकी ओर दुर्लक्ष्य करने लग गए हैं।

इस लिए कई एक समाजों ने जाति-बहिष्कार की प्रथा उठा देने, और उसके स्थान पर व्यक्तिगत असहयोग का व्यवहार करने का निश्चय कर लिया है, तथा अन्य समाजें ऐसा निश्चय मान्य करती जा रही हैं। बहिष्कार का प्रयोग अपराधी का साथ देने वालों पर भी होने से उससे समाज में दलबन्दी कलह और अशान्ति होजाना अनिवार्य था, असहयोग में वह बात नहीं, यह तो अपराध करने वाले व्यक्ति तक ही परिमित रहता है। इस में दंड की भावना कम और सुधार की अधिक है।

सामाज और सभ्यता सम्बन्धी विचार—समाज का कर्तव्य केवल रीति रस्मों के संशोधन या अपराधियों को दंड देने तक ही परिमित नहीं है। उसका क्षेत्र बहुत व्यापक है, उसे इस बात का भी विचार करते रहना चाहिये कि लोगों में किस प्रकार की भावनाएं काम कर रही हैं। धार्मिक या सामाजिक कहे जाने वाले उत्सवों में वेश्यानृत्य आदि कामोत्तेजक प्रथा होने से उसका युवक और युवतियों के कोमल हृदय पर कैसा प्रभाव पड़ता है! समाज सोचे कि

जब आदमी सामाजिक सम्मेलनों तथा त्योहारों में भंग (ठंडाई) अफीम, इत्र-फुलैल आदि से आगन्तुकों का स्वागत सत्कार करते हैं तो ऐसा न हो कि जिन लोगों को यहां ये चीजें दूसरों के आग्रह से लेनी होती हैं, और विना मूल्य मिल जाती हैं, उनमें से कुछ को क्रमशः इनके सेवन की आदत ही पड़ जाय, और फिर ये अपने जीवन-रक्षक पदार्थों में भी कमी करके इन व्यसनों की पूर्ति का प्रयत्न करने लगें।

समाज इस बात का भी विचार करे कि उसके व्यक्ति कैसा जीवन बिता रहे हैं, उनकी आवश्यकताएं किस दिशा में बढ़ रही हैं, या घट रही हैं। निदान, उसे जनता के सन्मुख सभ्यता सम्बन्धी समुचित आदर्श प्रस्तुत करते रहना चाहिये। इसके लिए आवश्यकता है, त्याग और सेवा के भावों की वृद्धि की, आधुनिक सभ्यता के भौतिक स्वरूप और सुखवाद में आमूल परिवर्तन कर देने की, धन-मद तथा तामसिक आवश्यकताओं को घटाने की, और कभी तृप्त न होने वाली विषय वासनाओं को आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा शान्त करने की। यदि समाज इन बातों की ओर समुचित ध्यान दे तो निस्सन्देह आशा है कि वह अपराध-निवारण में बहुत सहायक होगा।

चौथा परिच्छेद

—:o:—

राज्य का कर्तव्य

"जिस अनुपात में शासन-कार्य उत्तमता से सम्पादित होता है, उसी अनुपात में अपराधों की न्यूनता होती है। इस लिए अपराध निवारण का प्रथम और सबसे अधिक प्रभावशाली उपाय बुद्धिमता-पूर्वक किया हुआ शासन है, जिससे सर्व-साधारण की सुख स्मृद्धि हो।"

राज्य का उत्तरदायित्व—आज कल समाजों की शक्ति क्षीण हो गई, और होती जा रही है। मनुष्यों को अनेक सामाजिक विषयों के लिए राज्य का आसरा लेना पड़ता है। शिक्षा, साहित्य, व्यापार और स्वास्थ जैसे अ-राजनैतिक विषय भी अब राज्य के नियंत्रण में रहने लगे हैं। धर्माचार्यों का क्षेत्र भी बहुत परिमित हो चला है, अनेक धार्मिक विषयों के संचालन की विधि कानून द्वारा निश्चित है। ऐसा मालूम होता है कि चहुं ओर से शक्ति की विविध धाराएं आकर राज्य रूपी केन्द्रीय समुद्र में मिलती जा रही हैं। इसके फल-स्वरूप राज्य का उत्तरदायित्व बहुत

बढ़ गया है। राष्ट्र का भला-बुरा बहुत कुछ अब राज्य के सूत्र-संचालन पर निर्भर है। 'कोउ नृप होउ हमें का हानि' की बात अब लागू नहीं हो सकती। अब तो राज्य को लक्ष्य में रख कर यह कहा जा सकता है कि 'एकहि साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।' अस्तु, जनता के अन्यान्य कार्यों की भांति अपराध निवारण में भी राज्य बहुत महत्व-पूर्ण भाग ले सकता है। पहले उसके शिक्षा सम्बन्धी कार्य का विचार करें।

राज्य का शिक्षा सम्बन्धी कार्य—अपराध निवारण के लिए, न केवल शिक्षा प्रचार की, वरन् शिक्षा सुधार की कितनी आवश्यकता है, यह पहले बताया जा चुका है। यह कार्य काफी व्यय तथा श्रम साध्य है, और राज्य की पर्याप्त सहायता बिना होना कठिन है। कुछ राज्य बालक बालिकाओं की शिक्षा में विशेष व्यय करना आवश्यक नहीं समझते। परन्तु तनिक विचार करने पर ज्ञात होगा कि नागरिकों की बाल्यावस्था में उनकी शिक्षा के लिए रुपया लगाना, अन्ततः उसकी अपेक्षा अच्छा ही है, कि बड़ी अवस्था में उनके लिए जेलों और अदालतों आदि की व्यवस्था करनी पड़े। एक बालक बालिका को सामाजिक और नैतिक नियमों के अनुकूल बनाना आसान है। उसकी आदतों और चरित्र का आवश्यकतानुसार निर्म्माण किया जा सकता है, परन्तु परिपक्व अवस्था के पुरुष या स्त्री का रंग-ढंग सुधारना अत्यन्त कठिन है, उसके लिए रुपया और शक्ति खर्च करना बहुत

कम उपयोगी होता है। क्या ही अच्छा हो, भिन्न भिन्न देशों की सरकारों के सूत्रधार इस तत्व को हृदयंगम करें, और अपने अपने यहां की शिक्षा-पद्धति में यथेष्ट सुधार करने और विकसित शिक्षा प्रणाली का प्रचार करने में कोई कोर-कसर उठा न रखें।

साहित्य सम्बन्धी कार्य—इसी प्रकार, राज्य को चाहिये कि ऐसे लोकोपकारी साहित्य को प्रोत्साहन दे, जिससे जनता में शान्ति तथा संयम का, और कर्तव्य पालन सम्बन्धी विविध भावों का उदय हो। इसके साथ ही युवकों के हृदय और मन को बिगाड़ने वाली रचनाओं आदि पर यथेष्ट अंकुश रखा जाना चाहिये।

यदि प्रत्येक नगर या जिले के अपराधियों के सम्बन्ध में गवेषणामय जांच की जाने पर, प्रति वर्ष कुछ विचार-पूर्ण रिपोर्टें तैयार और प्रकाशित की जायँ तो अपराध-निवारण (तथा अपराध-चिकित्सा) के विषय में अच्छी विचारणीय सामग्री मिलने की सुविधा हो। इस समय इस दिशा में, अनेक देशों में प्रायः कुछ भी कार्य नहीं हो रहा है। अधिकांश जजों के फैसले और जेलों की रिपोर्ट ऐसी शुष्क तथा निरस होती हैं, जिनसे इस विषय में कुछ उल्लेखनीय सहायता नहीं मिलती। उनकी एक खास प्रकार की शैली है, निर्धारित ढांचा है, उसमें मौलिकता की विशेष गुंजायश नहीं, मनोविज्ञान के जिज्ञासुओं के लिए वे प्रायः निरर्थक होती हैं। वे अधिकतर एक रस्म अदा करने के लिए होती हैं, शायद इससे अधिक कुछ और लक्ष्य

या उद्देश उनके प्रणेताओं के ध्यान में भी नहीं होता। अन्यान्य देशों में अमरीका में इस विषय का अच्छा विचार हुआ, तथा हो रहा है। वहां अपराध विषय का भी मानों एक शास्त्र बन गया है। वहां के इस विषय के साहित्य से अन्य देश वालों को बहुत कुछ सहायता मिल सकती है, और वे अपने यहां की विशेष परिस्थिति के अनुसार वहां की कार्य-शैली का उपयोग कर सकते हैं।

वर्तमान परिस्थिति में अधिकांश राज्य उपर्युक्त प्रकार की जांच सम्बन्धी शिक्षा-प्रद रिपोर्टें प्रकाशित कराने की कल्पना ही नहीं करते। उन्हें यह कार्य व्यर्थ सा जंचता है। वे इस मद में रुपया खर्च करने को अपव्यय समझेंगे, इसके वास्ते उनके पास द्रव्याभाव रहता है, यद्यपि वे जेल और पुलिस आदि के हिसाब में प्रतिवर्ष बड़ी बड़ी रकमें खर्च करने के आदी हैं। वे भूल जाते हैं कि उन का विचार अदूरदर्शिता-पूर्ण है, उनकी मितव्ययिता अन्ततः उन्हें बड़ी मंहगी पड़ती है। जहां उनकी पुलिस, जेल, अदालतें आदि वर्तमान अवस्था में अपराधों की संख्या और मात्रा की वृद्धि करती हैं, उपर्युक्त कार्य से वह अपराधी नागरिकों को सन्मार्ग पर लाने में सहायक हो सकते हैं, और अपराधों को बहुत अंश में घटा सकते हैं, जिसका, नैतिक महत्व के अतिरिक्त, आर्थिक उपयोग भी कुछ कम न होगा।

आर्थिक सुव्यवस्था—हम अपराधों के निदान में बता चुके

हैं कि बहुत से अपराधों का कारण लोगों की आर्थिक असुविधाएं होती हैं। राज्य को इस बात का प्रयत्न करना चाहिये कि कोई नागरिक अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों से वंचित न रहे। खाने पहनने की आवश्यक सामग्री प्रत्येक व्यक्ति को सुलभ हो। अवश्य ही इसके लिए वह परिश्रम करे, परन्तु उसे परिश्रम इतना अधिक या इतनी देर तक न करना पड़े कि उसे विश्राम, मनोरंजन या अपने विकास सम्बधी बातों के लिए समय का अभाव हो जाय, या उसे अपने निर्वाह के लिए आत्म-सम्मान या स्वाभिमान या अन्य विविध सद्गुणों और सद्भावनाओं को तिलांजलि देनी पड़े। साथ ही यह भी आवश्यक है कि धन का वितरण नागरिकों में ऐसा न हो कि एक ओर तो कुछ भी परिश्रम न करने वाले कुछ व्यक्ति अनन्त धन-राशि के स्वामी हों, और दूसरी ओर असंख्य नागरिक जैसे-तैसे जीवन व्यतीत करने वाले हों। राज्य को धनोत्पादन, व्यापार और विनिमय आदि पर उपर्युक्त दृष्टि से नियन्त्रण करना चाहिये, उसकी कर-निर्द्धारण नीति भी इस विषय में समुचित सहायक होनी चाहिये। निदान राज्य की अर्थ-नीति का परिणाम यह न होना चाहिये कि धनी, और अधिक धनवान होते जायँ, और साधारण आदमी अधिकाधिक ग़रीबी में पिसते जायँ, वरन् यह होना चाहिये कि उससे धनवान और गरीबों का अन्तर यथा-सम्भव कम हो, और उस अन्तर के घटने की ही प्रवृति रहे। ऐसा होने से बहुत से अपराधों के होने का अवसर ही न

आएगा, और नागरिक अपना जीवन निर्दोषता तथा सुख पूर्वक व्यतीत करने वाले होंगे।

नैतिक विचारों का प्रचार—राज्य को अपने नागरिकों की नैतिक पुष्टि भी करनी चाहिये, जिससे उनमें क्रोध, अहंकार, ईर्षा-द्वेष, छल कपट, हिन्सा और उद्विग्नता का भाव न हो। वे धीर, संतोषी, संयमी, परोपकारी तथा सेवा-व्रती हों। वे दूसरे के दुख को अपना दुख समझ कर उसे यथा-सम्भव घटाने में सहयोग करने वाले हों। इसी प्रकार दूसरों को सुखस्मृद्धि को देख कर उनके मन में किसी तरह की जलन न हो; इसके विपरीत, वे इस बात में आनन्द का अनुभव करें कि उनके देश-भाई या बहिनें प्रसन्न हैं।

इसके लिए राज्य को विध्यात्मक और निषेधात्मक दोनों ही प्रकार के कार्य करने चाहिये। समुचित शिक्षा और साहित्य के प्रचार द्वारा पहला कार्य किया जा सकता है। समय समय पर अच्छे उपदेश, कथा वार्ता, भाषण और मेजिक लालटेन के दृश्य दिखाने का कार्य भी होना चाहिये, जिससे प्रौढ़ जनता को भी यथेष्ट सामग्री मिलती रहे। राज्य का दूसरे प्रकार का (निषेधात्मक) कार्य यह होना चाहिये कि वह अनिष्टकारी साहित्य और भाषण आदि पर पर्याप्त नियन्त्रण रखे, सिनेमा नाटक आदि से भी तामसिक विचारों का प्रचार न होने दे। मादक या उत्तेजक पदार्थों के व्यवहार का सौम्य उपायों द्वारा निषेध करे। ये

कुछ उदाहरण मात्र हैं। अन्य कार्यों की स्वयं कल्पना की जा सकती है। निदान, जनता में नैतिक विचारों के सम्यक् प्रचार होने की दशा में, नागरिकों की अपराध करने की प्रवृत्ति का अच्छा नियंत्रण हो सकता है। भावुकता तथा मानसिक विकारों या दुर्बलता के कारण किए जाने वाले अपराधों के निवारण के लिए तो नैतिक शिक्षा की विशेष ही आवश्यकता है।

बहुत से देशों में सरकारों की दृष्टि एकांगी रहती है। यदि उन्हें किसी लेख या भाषण में, अथवा नाटक या सिनेमा, आदि में ज़रा भी राजनीति की गन्ध आई तो उसे तत्काल कानून की पकड़ में ले लेते हैं; परन्तु इसके विपरीत, उनमें अश्लीलता, या दुराचार, आदि का आभास मिले, तो उसे वे यथेष्ट नियंत्रित नहीं करते। वास्तव में नैतिकता, राजनीति की अपेक्षा कहीं अधिक ध्यान देने योग्य वस्तु है, कारण उसका मनुष्य-जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है, और राजनीति तो अस्थाई है, समय समय पर बदला करती है।

समाज के कर्तव्यों में हम यह बता आए हैं कि अपराध के निवारण के लिए यह भी आवश्यक है कि जनता के सामने सभ्यता सम्बन्धी समुचित त्याग और सेवा का आदर्श उपस्थित रखा जाय। राज्य को चाहिये कि वह भी अपराध-निवारण के इस उपाय में भरसक सहयोग प्रदान करे।

कानून की उपयोगिता—अपराध निवारण के लिए यह

आवश्यक है कि अनुकूल लोक मत तैयार किया जाय। ऐसा किए बिना, समाज सुधार के वास्ते कानून पर आश्रित रहना कदापि उचित नहीं है। इस सम्बन्ध में इस तत्व को भली भांति ध्यान में रखने की आवश्यकता है, कि यद्यपि मनुष्य-चरित्र के सुधार कानून का भी कुछ स्थान है, परन्तु में इस विषय के अन्य सहायकों की अवहेलना करके कानून को बहुत अधिक महत्व देना बड़ी भूल है। अनेक दशाओं में जहां कानून सत्ता या शक्ति का प्रयोग विफल होता है, कृपा दया और सहानुभूति का प्रयोग सफल होता पाया गया है। राज्य को यह भी स्मरण रखना चाहिये कि कानून में मानवी आवश्यकताओं का यथेष्ठ ध्यान रखा जाय। आदमी सार्वजनिक रास्तों या सड़कों की नालियों में चाहे जहां बैठकर पेशाब न करें, इसके लिए स्थान स्थान पर पेशाब-घर बनवाए जाने चाहिये। आदमी भीख न मांगे, इसके लिए वेकारों के वास्ते ऐसे कारखानों आदि की व्यवस्था होनी चाहिये जहां काम करने पर उन्हें रोटी कपड़ा तो मिल सके। इसी प्रकार कानून में मनुष्यों की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था की जानी चाहिये।

शासन व्यवस्था में जनता का भाग—यह बात विशेष तथा व्यापक रूप में तभी सम्भव है, जब शासन विषय में मनोविज्ञान वेत्ताओं का समुचित परामर्श रहे, तथा राज्य के कार्य जनता के मतानुसार, और जनता के लिए हितकर हों। सबको

विकास और उन्नति के यथेष्ट अवसर प्राप्त हों। राज्य में कहीं भी पक्षपात, दमन या कूटनीति आदि का समावेश न हो। लोगों को असन्तोष का अवसर न मिले। सरकार जो कानून आदि प्रचलित करे वह अधिक से अधिक जनता का बनाया हुआ हो, यथा-सम्भव किसी को यह कल्पना ही न होने पावे कि उस पर राज्य का नियंत्रण है, या उस की ओर से कोई दबाव डाला जा रहा है। वे स्वेच्छा से हर्ष-पूर्वक उनका पालन करने वाले हों। ऐसी दशा में यदि कोई व्यक्ति अज्ञान या भ्रम-वश किसी नियम की उपयोगिता न समझकर उसकी अवहेलना करने लगेगा तो उसके अनेक सहयोगी साथी स्वयं राज्य-कार्य से सन्तुष्ट होते हुए, यथा-सम्भव उसे भी सन्मार्ग पर आने के लिए प्रेरित करेंगे। लोगों की राजनैतिक अपराध करने की भावना ही न होगी।

राष्ट्रीय कार्यक्रम—पराधीन देशों के इतिहास का सूक्ष्मावलोकन करने से यह स्पष्ट सिद्ध है कि जब कभी उन देशों में स्वाधीनता का आन्दोलन जोरों पर रहा है, वहां चोरी ठगी आदि के अपराध अपेक्षा-कृत बहुत कम हुए हैं। इस बात से राज्यों को समुचित शिक्षा लेनी चाहिये, और उन्हें जनता के सामने ऐसा राष्ट्रीय कार्य-क्रम रखना चाहिये, जिसमें विचार, विवेक, साहस, धैर्य, अध्यवसाय आदि विविध गुणों का उपयोग हो, और नागरिकों की विविध श्रेणियों के लिए सम्यक् कार्य मिल सके। जब जनता का ध्यान ऐसे कार्य में लगा रहता है, तो उनके वास्ते

अपनी शक्ति के सदुपयोग का मार्ग प्रशस्त होता है, और वे दुष्कृत्य करके अपराधी नहीं बनते। कहना नहीं होगा कि उपर्युक्त कार्य-क्रम की व्यवस्था भी तभी ठीक हो सकती है, जब राज्य और जनता में पूर्ण सहयोग हो, एक दूसरे के प्रति सद्भाव रखे, दोनों के स्वार्थ में समता हो।

विश्व-नागरिकता—शिक्षा के प्रसंग में हमने उस धार्मिक शिक्षा की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है, जो सब धर्म वालों से, बिना किसी भेद भाव के, प्रेम, सहानुभूति और सहयोग करना सिखाए, जो मनुष्यों में विश्व-बन्धुत्व की भावना का प्रचार करे। राज्य का भी कर्तव्य है कि वह उस दिशा में सहायक हो। आज कल राज्यों का दृष्टि-कोण नितान्त अनुदार है, वे अपने साधारण योग्यता वाले नागरिक को बहुत उच्च स्थान, पद या प्रतिष्ठा देते हैं, और दूसरे राज्य के उससे अधिक गुण-सम्पन्न व्यक्ति का इतना भी आदर नहीं करते। अनेक राज्य दूसरों का धन-शोषण करने और तरह तरह से उन्हें हानि पहुंचाने में संकोच नहीं करते। नागरिकों के सामने विश्व-बंधुत्व का आदर्श रहना चाहिये, वे विश्व-नागरिक बनने चाहिये। दूसरे राज्य के नागरिकों के प्रति कोई अपराध करना उतना ही निन्द्य तथा त्याज्य होना चाहिये जितना अपने राज्य के नागरिक बन्धुओं के प्रति। अपराध आखिर अपराध है, वह किसी भी मनुष्य के प्रति क्यों न किया जाय। काले या पीले आदमी को गाली देना,

या मारना पीटना वैसा ही खराब है, जैसा किसी गोरे या भूरे आदमी को। जब राज्य इस प्रकार के भावों का प्रचार करेंगे, तभी नागरिकों की मनोवृत्ति में वास्तविक सुधार होगा। क्या राज्यों से ऐसी आशा करना अनुचित है? क्या यह शेखचिल्ली का स्वप्न है? क्या यह स्वप्न केवल स्पप्न ही रहेगा? यदि ऐसा हुआ तब तो अपराधों का उन्मूलन भी एक सीमा तक स्वप्न ही समझना चाहिये। किन्तु, हम मानव विकास के सम्बन्ध में, अनेक बाधाओं और कठिनाइयों का अनुभव तथा अनुमान करते हुए भी, निराश नहीं हैं। हो सकता है, मनोरथ सिद्ध होने में देर लगे, अकल्पित समय लगे, पर अन्ततः मानव समाज अपनी मंजिल पूरी करेगा, उसका अभीष्ट सुधार होगा। जो व्यक्ति, जो संस्थाएं, जो राज्य इसमें योग दें, वे धन्य हैं।

अस्तु, वास्तव में यदि राज्य अपना कर्तव्य ठीक रीति से पालन करे और अपना दृष्टि-कोण उदार बनाए तो अपराध-निवारण में बड़ी सफलता मिल सकती है। ऐसा होने से स्वयं राज्य को भी बड़ा लाभ है, उसकी अपराध-चिकित्सा सम्बन्धी परेशानी बहुत बच सकती है। राज्यों को स्मरण रखना चाहिये कि उनके यहां बहुत से अपराधों का होना और उनका इनकी चिकित्सा करना (जो बहुत कम अंश में ही सफल होती है), उनके वास्ते इतना शोभास्पद नहीं है, जितना यह कि अपराध हों ही नहीं, या बहुत कम हों। और, अपराधों का कम होना बहुत कुछ राज्य की सुव्यवस्था सुप्रबन्ध और विशाल-हृदयता पर निर्भर है।

चतुर्थ खंड

वैज्ञानिक अपराध चिकित्सा पद्धति

"ज्वर में कुनाइन, या चिरायते का काढ़ा देना हम उचित मान सकते हैं, पर सन्निपात की अवस्था में इस औषधि से काम न चलेगा।"

—'कर्मवीर'

पहला परिच्छेद

—:o:—

अपराधों का वर्गीकरण

"वर्गीकरण का कार्य बहुत कठिन, और कुछ दशाओं में भ्रम-पूर्ण भी होता है, तथापि इसकी आवश्यकता असंदिग्ध है।"

प्राक्कथन—हम उन बातों का विचार कर चुके हैं, जिनसे अपराधों के रोकने में बहुत सहायता मिल सकती है। अवश्य ही हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि उन उपायों को काम में लाने से कोई व्यक्ति अपराधी होगा ही नहीं। रोगों को रोकने के भरसक प्रयत्न करते रहने पर भी कुछ व्यक्तियों का समय समय पर बीमार पड़ जाना सर्वथा सम्भव है। और, समाज तथा राज्य को इस ओर उदासीन नहीं रहना चाहिये। अस्तु, अब इस खंड में हमें उन व्यक्तियों के विषय में विचार करना है जो किसी अपराध के अपराधी पाए जायं। इनकी चिकित्सा किस प्रकार की जाय, जिससे इनका सम्यग् सुधार हो, इनकी अपराध करने

की मनोवृत्ति हट जाय ? इसके लिए, पहले अपराधों के वर्गीकरण का विचार करना आवश्यक है।

वर्गीकरण की कठिनाई—राज्य तथा नागरिकों को यह जानने की रुचि तथा आवश्यकता होती है कि उनके देश में अपराध कैसे और कहां तक होते हैं। परन्तु अपराधों का वर्गीकरण है बहुत कठिन। यह मान लेने पर भी कि अमुक कार्य अपराध है, सब आदमी प्रायः इस विषय में सहमत नहीं होते कि उस अपराध को किस भेद के अन्तर्गत समझना चाहिए। कोई उसे एक प्रकार का बतलाएगा, कोई दूसरे प्रकार का। इसका कारण यह भी है कि अपराध से सम्बन्ध रखने वाली बातें बहुत सी होती हैं; उनमें से कुछ का विचार करने से जो अपराध एक प्रकार का मालूम होता है, दूसरी बातों का विचार करने से वही अपराध अन्य प्रकार का मालूम होने लगता है।

कुछ प्रचलित वर्गीकरण—प्रायः कानून के अनुसार, अपराधों के दो भेद किए जाते हैं, जमानत के योग्य, और जमानत के अयोग्य। प्रथम प्रकार के अपराधों के अभियुक्त जमानत पर छोड़े जाते हैं; दूसरे, जमानत पर नहीं छोड़े जाते। इस वर्गीकरण से यही मालूम होता है कि अमुक अपराध साधारण है, और अमुक घोर है। अपराधों का एक वर्गीकरण दीवानी और फौजदारी का होता है। प्रायः जो अपराध किसी व्यक्ति के विरुद्ध माना जाता है, वह दीवानी कहलाता है; और जो, समाज

के विरुद्ध माना जाता है, वह फौजदारी कहलाता है। उदाहरणार्थ, एक आदमी किसी से रुपया उधार लेकर, उसे ब्याज सहित लौटाता नहीं; यह उसी व्यक्ति की हानि करता है, जिसने उसे उधार दिया है, समाज के दूसरे आदमी उससे इस प्रकार का व्यवहार न करके हानि से बचे रहते हैं; ऐसे अपराध को दीवानी अपराध कहते हैं। अब, कल्पना करो कि एक आदमी चोरी या लूट मार करता है, या किसी को गाली देता है। ऐसे आदमी से समाज में सब को भय रहता है, क्योंकि उससे चाहे जिसकी हानि हो सकती है। इस प्रकार के, अर्थात् चोरी लूट आदि के अपराध फौजदारी के अपराध कहलाते हैं। यह वर्गीकरण भी बहुत उत्तम नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि फौजदारी अपराध दीवानी अपराध से गुरुतर ही हों। और, अनेक बार तो ऐसा भी देखने में आता है कि एक कार्य में दोनों प्रकार के अपराधों का समावेश हो जाता है, और यह अभियोग चलाने वाले की इच्छा या सुविधा पर निर्भर होता है कि वह एक प्रकार का चलाए या दूसरी प्रकार का; पहले दीवानी करे, या फौजदारी, अथवा दोनों एक साथ ही करे!

भारतवर्ष में सरकारी कागजों में बहुधा अपराधों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है:—(१) राज्य, अथवा सार्वजनिक शान्ति के विरुद्ध, (२) हत्या, (३) किसी की जान लेने के लिए अन्य घोर अपराध, (४) लूट मार, (५)

पशुओं की चोरी, (६) साधारण चोरी, और (७) अपराध करने के विचार से, किसी के घर में (बिना अधिकार) प्रवेश, या सेंध लगाना। यह वर्गीकरण भी कुछ वैज्ञानिक आधार पर नहीं है। यह तो इसी से स्पष्ट है कि साधारण चोरी और पशुओं की चोरी में भेद किया गया है, और सब हत्याओं को, उनके प्रेरक हेतु का विचार न कर, एक ही श्रेणी में रखा गया है। पुनः, यहां भाषण लेखन आदि सम्बन्धी जो कार्य राज्य के विरुद्ध अपराध माने जाते हैं, उनमें से अनेक कार्य उन्नत राज्यों में अपराध ही नहीं माने जाते।

विचारणीय वर्गीकरण—बहुधा ऐसा होता है कि विविध कार्यों का, एक उद्देश्य के विचार से, जो वर्गीकरण संतोष-जनक प्रतीत होता है, वह दूसरे उद्देश्य के विचार से असन्तोषप्रद रहता है। अपराधों का वर्गीकरण करने के लिए भी भिन्न भिन्न विचारकों के सन्मुख पृथक् पृथक् उद्देश्य हो सकते है। अस्तु, पूर्णतः सन्तोषप्रद और व्यावहारिक न होने पर भी अपराधों का निम्नलिखित वर्गीकरण बहुत उपयोगी तथा विचारणीय है।

कुछ अपराध तो समाज के मूल पर अर्थात् उसके संगठन पर ही—प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से—कुठाराघात करने वाले होते हैं। अन्य अपराध समाज के किसी अङ्ग को क्षति पहुंचाते हैं; ये व्यक्तियों की हानि करते हैं, परिवारों को विध्वंस करते है, अथवा समाज के, अपनी पूर्ति या वृद्धि करने के उस कार्य में

विघ्न डालते हैं, जो वह बालकों के भरण पोषण द्वारा करता है, इत्यादि। इस प्रकार अपराधों के दो भेद किए जा सकते हैं, सार्वजनिक, और व्यक्तिगत। सार्वजनिक अपराधों के पुनः दो भेद हो सकते हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रत्यक्ष सार्वजनिक अपराध—प्रत्यक्ष सार्वजनिक अपराध वे हैं, जो समाज या राज्य के कार्यों में बाधा उपस्थित करते हैं। राज्य के कुछ कार्य मुख्य और कुछ गौण होते हैं। मुख्य कार्य बाहरी शत्रुओं से रक्षा करना तथा आन्तरिक एकता बनाए रखना है। बाहरी रक्षा के लिए राज्य वैदेशिक विभाग, तथा स्थल, जल और वायु की सेना रखता है। आन्तरिक एकता के लिए शान्ति की व्यवस्था की जाती है। इसके लिए, शान्ति-भंग को रोकने के वास्ते पुलिस, झगड़ा करने वालों का मामला निपटाने के वास्ते न्यायालय, तथा अपराधियों को सुधारने के वास्ते सुधार-शाला या रिफार्मेटरी और जेल आदि का प्रबन्ध किया जाता है। उपर्युक्त दोनों कार्यों के लिए राज्य को कर आदि से कुछ आय होनी आवश्यक है, जिससे वह अपने कर्मचारियों को वेतन दे तथा आवश्यक मकान या दफ़र आदि बनावे। नागरिक के जिस कार्य से राज्य के इन कार्यों में बाधा उपस्थित होती है, वह उसके लिए प्रत्यक्ष रूप से हानिकर है। इसके अतिरिक्त राज्य, के कर्मचारियों का पद और उत्तरदायित्व भी विशेष होता है। उन्हें यथेष्ट मान-प्रतिष्ठा मिलनी चाहिये। परन्तु स्मरण रहे कि

कि बहुधा उन्हें अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए अपने अधिकार के दुरुपयोग करने का प्रलोभन रहता है। यह दुरुपयोग राज्य के लिए बहुत हानिकर होता है, और जब यह अधिक बढ़ जाता है, तो इससे राज्य के भीतर क्रान्ति हो सकती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष सार्वजनिक अपराधों में से गम्भीर अपराधों के निम्न लिखित भेद हो जाते हैं:—

१—संगठित या पूर्ण राज्य के विरुद्ध, तथा बाहरी रक्षा के विरुद्ध
२—शान्ति विरोधी
३—न्याय कार्य के विरुद्ध
४—राज्य कर सम्बन्धी
५—राज्य-कर्मचारियों के विरुद्ध
६—राज्य कर्मचारियों का, अपने अधिकारों का दुरुपयोग।

ऊपर हमने राज्य के मुख्य कार्यों का उल्लेख किया है, इनके अतिरिक्त आधुनिक राज्य विविध प्रकार के ऐसे कार्य करते हैं, जो यद्यपि उसके अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आवश्यक नहीं होते, तथापि नागरिकों की सुविधा के लिए, निर्बल सदस्यों की रक्षा के लिए, हानि की जोखम कम करने के लिए, या सार्वजनिक सुख के अन्य उपायों के लिए अभिष्ट ज़रूर होते हैं। सार्वजनिक सुविधा के वास्ते राज्य मुद्रा, डाक, तार, रेल आदि का एकाधिकार रखता है। निर्बलों की रक्षा के लिए राज्य दरिद्र रक्षा, पागलपन, करखाने में किए जाने वाले श्रम, तथा जुए आदि के सम्बन्ध में

कानून बनाता है। हानि की जोखम कम करने के वास्ते सार्वजनिक स्वास्थ, खान, जहाज या मोटर आदि के कानून बनाए जाते हैं। सार्वजनिक सुख की वृद्धि के लिए शिक्षा, नगर-निर्माण आदि की व्यवस्था की जाती है।

इन कानूनों को भंग करना, राज्य के विरुद्ध अपराध माना जाता है। इनके सम्बन्ध में अभियोग चलाने का काम व्यक्तियों पर नहीं छोड़ा जाता, यह कार्य राज्य-कर्मचारी करते हैं। तथापि यह स्पष्ट है कि इन कानूनों के भंग करने से न तो राज्य का अस्तित्व संकट में पड़ता है, और न उसकी एकता में बाधा ही उपस्थित होती है। इस लिए ये अपराध पूर्वोक्त अपराधों की अपेक्षा छोटे अर्थात् कम गम्भीर हैं, यद्यपि वैसे ये भी कभी कभी बहुत दंडनीय समझे जाते हैं। अस्तु, इन अपराधों के निम्न लिखित भेद किए जासकते हैं :—

१—राज्य के एकाधिकारों के विरुद्ध
२—निर्बल-रक्षा-कानूनों के विरुद्ध
३—हित-रक्षा कानूनों के विरुद्ध
४—सुख-स्मृद्धि-कानूनों के विरुद्ध

राज्य में म्युनिसिपैलिटी लोकल बोर्ड, पंचायत, पोर्ट ट्रस्ट तथा विविध कम्पनियां आदि अनेक संस्थाएं होती हैं; जिन्हें अपने अपने क्षेत्र में विविध अधिकार होते हैं। वे राज्य के गौण कार्यों के सम्बन्ध में कुछ नियम उपनियम बना सकती हैं।

उनके नियमों को भंग करना अपराध माना जाता है; और वे अपराध प्रायः उपर्युक्त श्रेणियों के होते हैं।

परोक्ष सार्वजनिक अपराध—यहां तक तो उन अपराधों का वर्णन हुआ जो प्रत्यक्ष रूप से समाज को हानि पहुंचाते हैं। परोक्ष हानि ऐसे कार्यों से पहुंचती है जो जनता के धर्म, रीति-रस्म या आचार-व्यवहार के विरुद्ध हों। प्रायः आदमी इस बात से बड़ी घृणा किया करते हैं कि कोई उनके धार्मिक विश्वासों, या आचार-व्यवहार अथवा रीति-रस्म की निन्दा करे, और इन पर आघात पहुंचाए। ये कार्य समाज के लिए हानिकर होते हैं, और सार्वजनिक अपराध माने जाते हैं। प्राचीन काल में, प्रायः प्रत्येक देश में समाज की एकता का मुख्य आधार धर्म और आचार-व्यवहार रहा है। एक एक धर्म, या एक एक प्रकार के आचार-व्यवहार वाले आदमियों का दूसरों से पृथक् संगठन होता था। धार्मिक समभाव का बहुधा अभाव होता था; जो व्यक्ति एक धर्म के आधार पर संगठित समाज के विरुद्ध कुछ कहता सुनता था, वह समाज के कठोर दंड का भागी होता था। अब भी बहुत से अपराध धार्मिक असहिष्णुता के कारण होते हैं।

व्यक्तिगत अपराध—अब तक सार्वजनिक अपराधों का विचार हुआ। अब 'व्यक्तिगत' श्रेणी में माने हुए अपराधों का विचार करते हैं। ये किसी एक या अधिक आदमियों या संस्थाओं

के विरुद्ध होते हैं। इनके दो भेद हैं:—(१) वह अपराध जिनसे करने वाले को अपने जीवन संग्राम में कुछ सुविधा या लाभ होता है, अथवा उसके मन को कुछ सुख मिलता है। (२) जो वंश या परिवार के हितार्थ किए जाते हैं। इस पुस्तक के दूसरे खंड के तीसरे परिच्छेद में, 'स्वार्थ प्रवृत्ति और अपराध' के प्रसंग में, यह बताया जा चुका है कि मनुष्य में तीन प्रकार की भावनाएं होती हैं:—आत्म-रक्षा, वंश वृद्धि और समाज हित की। व्यक्तिगत अपराध उस समय किए जाते हैं जब इनमें से पहली या दूसरी भावना तीसरी का दमन कर देती है। इन अपराधों के निम्न लिखित भेद किए जा सकते हैं:—

१—अपने कुशल क्षेम के लिए

(क) किसी की जान या शरीर के विरुद्ध

(ख) किसी के माल के विरुद्ध

२—अपने लाभ के लिए

किसी के माल को बेजा काम में लाना

३—ईर्षा वश

(क) किसी की जान या शरीर के विरुद्ध

(ख) किसी की स्वाधीनता के विरुद्ध

(ग) किसी के माल के विरुद्ध

(घ) किसी की कीर्ति के विरुद्ध

ये तो हुए वे अपराध जो आदमी आत्म-रक्षा या अपनी

मनस्तुष्टि की भावना से प्रेरित होकर करता है। अब, तनिक उन अपराधों का विचार करें जो अपने परिवार या जाति की रक्षा या वृद्धि भावना से किए जाते है। ये अपराध या तो व्यक्तियों को हानिकर होते हैं, या विवाह-प्रथा पर, अथवा भावी पीढ़ी या वंश-वृद्धि पर आघात करते है। इनका वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है:—

१—व्यक्तियों के विरुद्ध

२—परिवार के विरुद्ध

३—जाति या वंश के विरुद्ध

इनमें से पहले प्रकार में, प्रायः ईर्षा-वश किए हुए अपराध होते हैं; दूसरे प्रकार में, स्त्रियों की पवित्रता या विवाह-बन्धन को नष्ट करने वाले होते हैं; और तीसरे प्रकार में, आने वाली पीढ़ी अर्थात् बच्चों के विरुद्ध किए हुए अपराध सम्मिलित होते हैं।

यहां अपराधों का स्थूल वर्गीकरण ही दिया गया है। ऊपर बताई हुई, प्रत्येक श्रेणी में बहुत से अपराध हो सकते हैं, विस्तार-भय से उनका ब्यौरा नहीं दिया जा सकता। अपराधों के वर्गीकरण में मत-भेद की बहुत गुंजायश है, यह पहले कहा ही जा चुका है।

राष्ट्रीयता का भेद भाव अनुचित है—इस परिच्छेद को समाप्त करने से पूर्व एक बात और! इस समय प्रायः राष्ट्रों की भावनाएं बहुत संकीर्ण हैं। प्रत्येक राष्ट्र, जब किसी अपराधी

का विचार करता है, तो वह यह सोचता है कि उसने मेरी हानि की है, या किसी अन्य राष्ट्र की। वह यह नहीं सोचता कि यदि किसी आदमो ने अपराध किया है तो वह अपराध मनुष्य के, एवं मानव जाति के, विरुद्ध है, जिसका वह राष्ट्र भी उतना ही अंग है, जितना मैं। इस समय तो अनेक राष्ट्र अपने उन व्यक्तियों को सगर्व सम्मानित करते हैं, जो दूसरे देशों का जन धन लूट लाते हैं। वे औरों की हानि में अपना लाभ समझते हैं। यदि वे अपने नागरिकों को वास्तव में मनुष्यत्व प्राप्त कराना चाहते हैं तो उनका कर्तव्य है कि वे उन्हें चोरी, झूठ, हिन्सा, व्यभिचार आदि दुर्गुणों से मुक्त करें, चाहे ये अपराध किसी भी देश के आदमियों के विरुद्ध क्यों न हों। इस प्रकार के उदार भावों के प्रचार होने पर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय अपराध में कुछ अन्तर नहीं रहता।

मनुष्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के संकुचित क्षेत्र से निकल कर सामुहिक स्वार्थ का अनुभव करने लगा है। वह अपने घर, ग्राम या नगर, और प्रान्त से बढ़ कर क्रमशः राष्ट्र तक आ पहुंचा है। परन्तु अभी उसे उदारता के क्षेत्र में और भी यात्रा करनी शेष है; वास्तविक सभ्यता की स्थिति में समस्त मानव समाज के स्वार्थों में ऐक्य का अनुभव होना चाहिए। जैसा कि हम पहले कह आए हैं, प्रत्येक व्यक्ति के सामने विश्व-नागरिक और विश्व-बन्धुत्व का आदर्श रहना चाहिये। उस दशा में

अपराध सर्वत्र अपराध माना जायगा, उसमें राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय का भेद न माना जायगा। मनुष्य समाज एक है, उसे जाति, रंग, या राष्ट्रीयता आदि की दीवारों से विभाजित करना अनुचित है।

दूसरा परिच्छेद

—:o:—

अपराधियों के भेद

अपराधियों की वैज्ञानिक चिकित्सा के लिए इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि हम अपराधियों को अच्छी तरह जानने और समझने की कोशिश करें। यह न होना चाहिये कि चोरी करने वाले चाहे वे बालक हों या बालिग, या वृद्ध, समझदार हों या पागल, पुरुष हों या स्त्री, सब को चोर समझ लिया जाय, और कायदे कानून की धारा के अनुसार सब को दंड देने में एक लाठी से हांकने का काम किया जाय।

जन्म-जात अपराधी—हम पहले कह चुके हैं कि अपराधियों में एक खासी संख्या—लगभग एक-तिहाई—ऐसे होते हैं, जो जन्म-जात अपराधी कहे जा सकते हैं। अपराध-विशेषज्ञों को कुछ ही वर्षों से अपराधियों की ऐसी श्रेणी मान्य हुई है। उससे पूर्व इस बात की प्रायः कल्पना नहीं की जाती थी कि ऐसे भी अपराधी हो सकते हैं। अस्तु, उनके लक्षण आदि पहले बताए जा चुके हैं, यहां केवल उस श्रेणी का उल्लेख मात्र करना अभिष्ट है।

पागल अपराधी—कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो जन्म से अपराधी न होते हुए, अपने जीवन में किसी खास समय मस्तिष्क के विकार के कारण पागल एवं अपराधी हो जाते हैं। वे अच्छे और बुरे में भेद करने में असमर्थ हो जाते हैं, वे अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं होते। अतः उन्हें उनको छिपाने को भी चिन्ता नहीं होती। उन्हें दंडित होने का भय नहीं होता। अन्य अपराध करने वाले प्रायः अपराध इस लिए किया करते है कि उनकी, अपना स्वार्थ-सिद्ध करने की इच्छा बड़ी प्रबल होती है। परन्तु पागल अपराधियों की, ऐसे कार्य करने की इच्छा होती है, जिनके करने में उन्हें एक प्रकार के आनन्द का तो अनुभव होता है, पर उनसे उन्हें लाभ कुछ नहीं होता। चोरी करने वाले पागल बहुधा अनावश्यक, अल्प-मूल्य वस्तुएं चुराते हैं, और उन्हें पीछे कहीं फैंक देते हैं। अन्य पागल कहीं आग लगा देते हैं, अथवा किसी को या स्वयं अपने आपको ही चोट पहुँचाते है।

अपराध-मूलक पागलपन के विशेष रूप—ऊपर कुछ बातें साधारण पागल अपराधियों के सम्बन्ध में कही गई हैं। अब अपराध-मूलक पागलपन के कुछ विशेष रूपों पर विचार करते हैं। उदाहरणवत् मदिरा-पान* का विषय लेते हैं। आकस्मिक मदिरा-

---

* अन्य मादक पदार्थों का प्रभाव भी कुछ कम ज्यादाह इसी प्रकार का होता है।

पान से शान्त स्वभाव वाला और ईमानदार आदमी भी बदमाश, चोर और हत्यारा हो सकता है। जो आदमी मदिरापान के अभ्यस्त होते हैं, उनमें कुछ विशेष चिन्ह मिलते हैं, उदाहरणवत् क्रिया-शीलता का कम होना, पुतलियों की असमानता, स्पर्श या कष्ट के ज्ञान की कमी। उन्हें बहुधा भयानक और गन्दे विषयों के चित्र से दिखाई दिया करते हैं। वे प्रायः सुस्त, बेपरवाह और चिड़चिड़े हो जाते हैं। उनकी काम-विषयक वासनाएँ उत्तेजित हो जाती हैं। वे दुराचार या व्यभिचार की ओर प्रवृत्त होते हैं। नशे की हालत में सुख-स्वप्न देखने के कारण, वे प्रायः अपने गृहस्थ से बहुत असन्तुष्ट और निराश से रहते हैं, और आवारा रहने लगते हैं। निरंतर मदिरा पान करने वालों की स्मरण शक्ति कम हो जाती है, जबान लड़खड़ाने लगती है, विचार अस्पष्ट और निर्णय भ्रम- मूलक हो जाता है, किसी कार्य में लगातार लगे रहना उनके लिए कठिन क्या लगभग असम्भव हो जाता है। उनकी, कल कारखाने में मशीन से काम करने की क्षमता बहुत कम हो जाती है।

हिस्टीरिया या उन्माद—यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक, प्रायः १ और २० के अनुपात से होता है, इस का कारण मस्तिष्क-दोष या कभी कभी आनुवंशिक होता है। बहुधा इसका सम्बन्ध यौन विकार या कामोत्तेजक भावना से होता है। इसके दौरे के समय रोगी को अपनी या पराई सुध-बुध बहुत कम

रहती है। और, वह नाना प्रकार के अपराध-मूलक कार्य करता है। दौरे के समय के अतिरिक्त, उसकी क्रियाएं, बात व्यवहार साधारण व्यक्तियों की भांति होती हैं। हमने स्वयं देखा है कि हिस्टीरिया की अवस्था में एक स्त्री को भागने की इच्छा होती थी, उसे इस बात का कुछ अनुमान नहीं होता था कि वह कहां जाना चाहती है, वह गिरती थी, रास्ते में मिलने वाली चीजों से चोट खाती थी, परन्तु सिवाय बहुत अधिक चोट लगने की दशा के, उसे बार-बार दौड़ने में ही आनन्द आता था। वह औरों को या स्वयं अपने आपको थप्पड़ मारती, या बाल नोचती या कपड़े फाड़ती थी। इन कामों में उसे इनके परिणाम अर्थात् लाभ-हानि का कुछ विचार नहीं होता था। वह इन्हें केवल अपनी तत्कालीन क्षणिक संतुष्टि के लिए करती थी।

साधारण अपराधी—जन्म-जात आपराधियों और पागल अपराधियों को छोड़ कर अन्य अपराधी साधारण श्रेणी के कहे जा सकते हैं। अपराध-विशेषज्ञों के हिसाब से इनकी संख्या कुल अपराधियों में लगभग आधी होती है। इनमें अपराध-रोग की प्रवृत्ति बहुत कम मात्रा में होती है। बिना विशेष या पर्याप्त कारण के, वह प्रकाश में नहीं आती। स्वस्थ वातावरण, सावधानता-पूर्वक शिक्षण, परिश्रम के अभ्यास, तथा नैतिक भावों के प्रचार से ये व्यक्ति अनुचित या अपराध-मूलक भावनाओं के शिकार होने से उस समय तक बचे रह सकते हैं, जब तक कि

अपराध करने के लिए इन्हे कोई विशेष प्रलोभन न मिले, या मजबूरी न हो।

ऐसे व्यक्ति अपने प्रारम्भिक अपराध-कार्य अपेक्षाकृत बड़ी आयु में करते हैं। और, उन्हें उनके करने में बहुत संकोच या अनिच्छा अथवा अरुचि सी रहती है। वे बहुधा अपना अपराध स्वीकार करने के लिए सुगमता-पूर्वक प्रेरित किए जा सकते हैं। अपमान किए जाने पर उन्हें बहुत रंज, लज्जा और पश्चाताप होता है, और इसके परिणाम-स्वरूप वे कभी कभी रुग्न हो जाते हैं, और कुछ दशाओं में मर भी जाते हैं। उनमें वत्सलता, स्नेह, बन्धुभाव आदि गुण सर्व साधारण की तरह होते हैं।

ये अपराधी, समाज की सभी श्रेणियों के होते हैं, और इन के अपराध भी विविध प्रकार के हुआ करते हैं। इनके अपराध की गुरुता यह सूचित नहीं करती कि उसके करने वाले में अपराध-प्रवृत्ति अधिक है, वरन् उस से केवल यह प्रतीत होता है कि वह बहुत साधन-सम्पन्न है, और उसकी संस्कृति और योग्यता ने उस के अपराध करने के अवसर और उपाय बढ़ा दिए हैं।

अभ्यस्त अपराधी—जेल आदि के पतनकारी प्रभाव, अपराधियों की संगति, अथवा मादक द्रव्यों के सेवन से आदमी अभ्यस्त अपराधी बन सकते हैं, जो नियम भंग करने को ही अपना पेशा या धन्धा मानते हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से इनमें

जन्म-जात अपराधियों के से लक्षण प्राप्त करने की प्रवृत्ति होती है। उदाहरणवत् इन में क्रमशः उन की सी आदतें,—गोदना, सुस्ती और गंवारू भाषा का प्रयोग आदि क्रमशः बढ़ता जाता है।

आकस्मिक अपराधी—जो आदमी संयोग-वश कानून-भंग करते हैं, वे दो प्रकार के होते हैं:—(१) संयोग से अनिच्छा-पूर्वक आग लगाने आदि के दुष्कृत्य करने वाले। इनका यह कार्य इनकी असावधानी या अदूरदर्शिता आदि से हो जाता है। यद्यपि ये वास्तव में अपराधी नहीं होते, पर इनके द्वारा दूसरों की क्षति तो होती ही है, जिसकी पूर्ति करने के लिए ये कानून से वाध्य किए जाते हैं। (२) ऐसे व्यक्ति जो प्रचलित लोकमत या विश्वासों की दृष्टि से अपराधी माने जाते हैं, उदाहरणतः बुरी भाषा का प्रयोग करने, राज्य-विरोधी लेख लिखने, और मद्यपान करने वाले, नास्तिक, या साधारण उप-नियमों की अवहेलना करने वाले।

भावुक अपराधी—कुछ आदमी अपनी प्रबल भावनाओं वश, प्रसंग उपस्थित होने पर, अपराध करने को विवश हो जाते हैं। कभी कभी कोई व्यक्ति अपने प्रेमी या प्रेमिका का अपमान, अनादर, या बेइज्जती करने वाले को मार डालता है, अथवा कुछ दशाओं में अपने उस प्रेमी या प्रेमिका को ही मार डालता है, जिसने किसी दूसरे को अपना प्रेम-भाजन बना लिया हो। ऐसे अपराधी अपना दुष्कृत्य प्रायः बिना विचार किए, अकस्मात और

खुल्लमखुल्ला किया करते है, और उसके बाद, कुछ दशाओं में, आत्म हत्या करते हुए अथवा पश्चाताप का जीवन व्यतीत करते देखे जाते हैं। अनेक बार ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि जब सामाजिक बन्धनों के कारण, प्रेमी और प्रेमिका एक दूसरे के साथ विवाह नहीं कर सकते तो वे उन रिश्तेदारों या विरादरी वाले लोगों को मारने का प्रयत्न करते है, जो उनके विवाह-सम्बन्ध में वाधक होते हैं। कभी कभी वे अपने प्रेम-पात्र को ही अपनी भावुकता और उत्तेजना की बलि चढ़ाते हैं।

मई सन् ३३ का समाचार है कि रंगून के जनरल अस्पताल में एक ३० वर्षीय चीनी युवक और एक १७ वर्षीय चीनी युवती घायल अवस्था में पहुंचाए गए। उनके शरीरों पर ६-६ घाव थे। उनकी हालत चिन्ता-जनक बतलाई जाती है। कहा जाता है कि उक्त युवक और युवती परस्पर विवाह करना चाहते थे—परन्तु वे विभिन्न जातियों के थे। समाज ने उनके प्रेम-विवाह पर आपत्ति की। फल-स्वरूप दोनों ने एक दूसरे को मारने का निश्चय किया। युवक ने युवती को, और युवती ने युवक को, चाकू से घायल किया।

जब कोई भावुक व्यक्ति हत्या करने पर उतारू हो जाता है, उसके क्रोध और उत्तेजना आदि के कारण उसकी विचार-शक्ति जाती रहती है, वह अपने आपे से बाहर हो जाता है, वह अपनी मानसिक या शारिरिक क्रियाओं पर नियंत्रण करने में असमर्थ हो जाता है, उस समय वह ऐसी बात की किंचित परवाह नहीं करता कि उसके कार्य का स्वयं उसके लिए क्या परिणाम होगा। वह

उस कार्य को करने के समय, कुछ देर के लिए तो अवश्य ही अपने सिर पर कफन बांध लेता है। ऐसा व्यक्ति प्राण-दंड आदि के भय से अपना हिन्सक मनोरथ पूरा करने से नहीं रुक सकता।

यहां अपराधियों के कुछ खास भेद ही बताए गए हैं, यह वर्गीकरण अवश्य ही अपूर्ण है, तथापि इससे अन्य प्रकार के भेदों का विचार करने में कुछ सुगमता होगी।

तीसरा परिच्छेद

—:o:—

अपराधियों की जांच

वास्तविक अपराध-चिकित्सा के लिए इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि अपराधी की वैज्ञानिक जांच की जाय; उसकी शारिरिक और मनो-वैज्ञानिक स्थिति कैसी है, उसकी अपराध करने की प्रवृति कैसी है, आरोपित अपराध का वह कहां तक उत्तरदायी है, उसका सुधार कैसे हो सकता है। इस प्रकार की जांच से न्यायाधीश को तो अपना निर्णय सुनाने के लिए उचित आधार मिलेगा ही; इसके अतिरिक्त इससे अपराधी की चिकित्सा में वैज्ञानिक दृष्टि-कोण रखने, और उसकी यथा-सम्भव वैज्ञानिक चिकित्सा करने में भी सहायता मिलेगी। अवश्य ही यह जांच अनुभवी शरीर-शास्त्र और मनोविज्ञान के आचार्यों तथा अपराध विषय के विशेषज्ञों द्वारा की जानी चाहिये।

जांच का दृष्टान्त—शारिरिक रोगों की चिकित्सा के लिए ऐसी जांच का महत्व बहुत समय से स्वीकार किया जा चुका है, और अब इस ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा है। उदाहरण के लिए जब कोई रोगी किसी होम्योपेथिक डाक्टर के पास जाता है, तो डाक्टर केवल रोग को जानकर ही उसकी औषधि निर्धारित नहीं कर देता। वह रोगी को यथा-सम्भव समझने की कोशिश करता है, उसका पूर्व इतिहास अधिक से अधिक जानने का प्रयत्न करता है, रोगी को उस रोग से पहले और क्या क्या रोग हुए थे, कौनसा रोग कैसे, कितने दिन बाद, किस चिकित्सा से, कितना घटा या बढ़ा। रोगी को किस प्रकार का भोजन रुचिकर है, उसकी प्रकृति या मिजाज कैसा है, उसको भूख प्यास, पाचन-शक्ति कैसी है, उसका किन बातों से आनन्द तथा विश्राम मिलता है या मनोरंजन होता है। इस प्रकार की बहुत सी जिज्ञासा कर चुकने पर, जब वह अपने प्रश्नों के उत्तर से संतुष्ट हो जाता है, तब वह यह समझता है कि वह रोग का निदान कर सका। तदुपरान्त ही वह औषधि का, जो बहुत थोड़ी मात्रा में होती है, निर्णय करता है। और हां, प्रायः औषधि की मात्रा इतनी अल्प होती है, कि रोगी को वह मालूम ही नहीं होती।

हमें यहां यह सिद्ध करना नहीं है कि होम्योपैथी की चिकित्सा सर्वोत्तम है। हमारा वक्तव्य केवल यह है कि अपराध-

चिकित्सा के लिए अपराधी की, उपर्युक्त प्रकार की गहरी जांच होने की अनिवार्य तथा सर्व-प्रथम आवश्यकता है।

विचारणीय बातें; पूर्व इतिहास और मनोवैज्ञानिक स्थिति—बहुधा अपराधी के रिश्तेदारों या मित्रों से पूछकर यह मालूम किया जा सकता है कि उसका पिछला जीवन कैसा रहा है, उसने कैसे वंश में जन्म लिया है, उसे कैसी और किन किन संस्थाओं में शिक्षा पाने का अवसर प्राप्त हुआ है, वह अपने छात्र-जीवन में कैसा प्रतीत हुआ, घर में उसका कैसा हाल रहा, उसके माता-पिता तथा अन्य निकट सम्बन्धियों का उसके साथ, तथा परस्पर में एक दूसरे के साथ, कैसा व्यवहार रहा। अपराधी को बचपन में कैसी कैसी बीमारी हुई। उसके परिवार में अधिकतर किन बीमारियों का प्राबल्य रहा, कोई स्नायु रोग तो नहीं हुआ, या मादक द्रव्यों के सेवन से होने वाले पागलपन की प्रवृत्ति तो नहीं रही। इस बात की जांच और भी अधिक महत्व की है कि उसके परिवार में अपराध कहां तक हुआ है।

दूसरी बात यह मालूम करने की है कि अपराधी अविवाहित है, या विवाहित; यदि वह विवाहित है तो क्या उसकी पत्नी जीवित है। कुछ पेशों का भी मनुष्य पर खास तरह का असर पड़ता है। अतः अपराधी के विषय में जानना चाहिये कि उसे किसी उद्योग धन्धे या पेशे की कैसी और कितनी शिक्षा

मिली या नहीं मिली। यदि उसने कहीं काम किया तो उस अवधि में उसका व्यवहार कैसा रहा, उसके मित्र, उसकी आकांक्षाएं और उसके आदर्श कैसे रहे। जहां जहां वह रहा, वहां का सार्वजनिक जीवन कैसा था। वर्ष के किस समय, ऋतु या परिस्थिति में अपराध हुआ है, यह बात भी ध्यान देने की है।

अपराध की पुनरावृत्ति करने वालों के विषय में यह जानना आवश्यक है कि उन्होंने प्रथम अपराध कब, कितनी उम्र में, किस परिस्थिति में किया था। बार बार अपराध करना जन्म-जात अपराधियों का लक्षण होता है; बालिग, और वृद्ध कुछ पृथक् पृथक् प्रकार के अपराध किया करते हैं; इसी प्रकार निर्धन और धनवानों के अपराध भी अपने अपने ढंग के होते हैं।

ज्ञान—यह जानना चाहिये कि अपराधी में प्रेम आदि की भावना कितनी है, भिन्न भिन्न चित्त-वृत्तियों का चेहरे पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार की जांच के लिए योरप में एक अच्छा यंत्र बन गया है। मानसिक विकार वालों को अच्छी निद्रा नहीं आती, उन्हें तरह तरह के बुरे दृश्य दिखाई दिया करते हैं। यह भी विचारणीय है कि अपराधी पर दूसरों के सुझाने-बुझाने का क्या असर पड़ता है। हिस्टीरिया आदि कुछ रोगों के रोगी इस विषय में नादान बच्चों के समान होते हैं, जिनमें स्वतंत्र चिन्तन नहीं होता।

बोली—यह देखना चाहिये कि अपराधी, प्रश्नों का उत्तर

किस प्रकार देता है, उसका उच्चारण कैसा है, उसकी ज़बान में तुतलाहट या हकलापन तो नहीं है। उससे कठिन शब्दों का उच्चारण कराने से यह जांच हो सकती है। वैज्ञानिक उन्नति वाले कुछ देशों में ऐसी जांच का परिणाम ग्रामोफोन में अङ्कित कर लिया जाता है, जिससे पीछे भी उस पर विचार किया जा सके।

स्मरण-शक्ति-आदि—अपराधी से, उससे सम्बन्ध रखने वाली, वर्तमान तथा भूत काल की घटनाओं के विषय में प्रश्न किये जाने चाहिये, यथा, तुमने कल शाम खाने को क्या खाया था, तुम्हें बीमार हुए कितना समय हुआ, (अगर उसके कोई संन्तान हो तो) तुम्हारी सन्तान का जन्म कब हुआ था। अपराधी को कई एक चित्रों, अक्षरों या शब्दों वाला कागज कुछ सेकिंड तक दिखा कर उसे पूछा जाय कि उसने क्या क्या देखा। इसी प्रकार अपराधी की स्पर्श शक्ति और श्रवण शक्ति आदि का, विविध प्रयोगों द्वारा, ठीक ठीक अनुमान करने में सहायता मिल सकती है।

लिखावट—लिखावट की जांच से भी यह जानने में सहायता मिलती है कि कोई व्यक्ति अपराधियों की किस श्रेणी का है। इसके लिए हस्ताक्षर कराना या दो एक पंक्तियां लिखाना ही पर्याप्त नहीं है, क्योंकि इसमें वह ध्यान जमा कर कार्य करेगा, वह विशेष सावधान रहेगा। अपराधी से जल्दी जल्दी एक दो

पृष्ट लिखाए जाने चाहिये। मद्यपान तथा लकवे से, लिखने में कपकपी होने लगती है, जैसी प्राय: बुढ़ापे में हुआ करती है। मृगी या उन्माद रोग के दौरे के बाद भी ऐसी दशा होती है। कुछ देशों में एक विशेष प्रकार की कलम 'पेन' का उपयोग किया जाता है, उससे हाथ की तनिक सी भी कपकपी स्पष्ट हो जाती है।

वस्त्राभरण—हत्यारे, उन्मादी, और नैतिक दृष्टि से पागल व्यक्ति जो प्राय: एकान्त जीवन बिताने वाले होते हैं, अपने भेष भूषा की ओर विशेष ध्यान नहीं देते, और बहुधा मैले-कुचैले रहते हैं। सिड़ी और पागल भी ऐसा ही करते हैं। इसके विपरीत, धोखेबाज या ठग खूब बन-ठन कर रहते हैं।

शारीरिक जांच—कुछ विद्वानों ने, जिन्होंने अपराध शास्त्र के साथ साथ शरीर विज्ञान का भी यथेष्ट अध्ययन और अनुभव किया है, अपना मत इस विषय में ब्यौरेवार दिया है कि अपराधियों की शारीरिक जांच किस प्रकार की जानी चाहिये। उन्होंने बतलाया है कि चर्म रोगों से, या झुर्रियों आदि चर्म सम्बन्धी चिन्हों से, दाढ़ी से, और शरीर पर गोदे हुए संकेत या चित्रादि के अवलोकन से अपराधी के बारे में यह अनुभव किया जा सकता है कि वह किस प्रकार के अपराधों की प्रवृत्ति वाला है। उन्होंने यह भी लिखा है कि अपराधियों की ऊंचाई और वजन का, तथा चेहरे, खोपड़ी, आंख, कान, हाथ तथा हथेली, और

पांवों की बनावट का सम्यग् निरीक्षण करके, और आधुनिक सूक्ष्म यंत्रों से नाप तोल करके यह अनुमान किया जा सकता है कि कोई व्यक्ति जन्म-जात अपराधी है या साधारण, एवं वह किस खास प्रकार के अपराधों की ओर विशेष प्रवृत्त है। विस्तार-भय से हम इस विषय में विशेष न लिखकर इसके संकेत मात्र से ही संतोष करते हैं।

जांच का उपयोग—अपराधियों की भिन्न भिन्न प्रकार की जांच की ओर थोड़े ही वर्षों से ध्यान दिया जाने लगा है। जिन महानुभावों ने इस विषय के मानव ज्ञान के बढ़ाने में परिश्रम किया है, वे बधाई और धन्यवाद के अधिकारी हैं। तथापि, हमें स्मरण रखना चाहिये कि अभी तक के प्रयोग अधिकतर पाश्चात्य विद्वानों ने किए हैं, और उनके अनुभव विशेषतया उनके देश काल की स्थिति के आधार पर हैं। अतः सम्भव है, उनमें सार्वभौमिक सत्यता न हो। आवश्यकता है कि इस विषय के प्रयोग व्यापक आधार पर किए जायँ, भिन्न भिन्न देशों की विविध जातियों की शारिरिक और मनोवैज्ञानिक परीस्थिति को लक्ष्य में रखा जाय। यह कार्य बहुत धैर्य, श्रम और त्याग का है, पर मानव हित के लिए इसकी उपयोगिता भी महान है।

खर्च का प्रश्न—यह कहा जा सकता है कि अपराधियों के विषय में ऐसी जांच करने के लिए तो बहुत से, तथा बहुत योग्य आदमियों की आवश्यकता होगी, उनके लिए बहुत खर्च करना

पड़ेगा। परन्तु तनिक गम्भीर विचार करने पर यह ज्ञात हो जायगा कि यह खर्च इतना अधिक नहीं होगा, जितना प्रतीत होता है। और, जब हम यह सोचते है कि इससे राज्य की अनेक मद्दों में कुछ बचत भी तो हो जायगी, और नागरिकों का सुधार होगा, तो यह खर्च कुछ भी विशेष नहीं मालूम होता। पाठक तनिक विचार करें, आज कल भी अपराधियों के विषय में राज्यों को कितना अधिक खर्च करना पड़ता है, वे कितनी पुलिस, कितनी अदालतें, कितने जासूस, कितने जेलर तथा कैदखानों के अन्य कर्मचारी रख रहे हैं। पुनः वर्तमान शासन प्रणाली में प्रत्येक राज्य के कितने नागरिक अनुत्पादक कार्यों में अपनी शक्ति और समय नष्ट कर रहे हैं, वह भी तो विचारणीय है। अदालतों में जाकर देखो, गवाहों के झुंड के झुंड को, मानों अदालत के काम के सिवाय और कुछ काम ही नहीं रहा है। प्रत्येक बड़े नगर में कई कई दर्जन मुखत्यार, वकील, बेरिस्टर और सालिसिटर तथा उनके मोहर्रिर नये नये अपराधी-शिकारों को फंसाने के सिवाय और क्या करते हैं! इनकी विद्वत्ता और योग्यता से नागरिकों में कौन सी ऊंची भावनाओं का उदय होता है? यह ठीक है कि इनके वास्ते सरकारी खज़ाने से कुछ खर्च नहीं होता, और ये जनता के रुपए से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते, तथा सरकार को भी आमदनी कराते हैं, परन्तु क्या यह वास्तव में राज्य के लिए क्षति-कारक नहीं है?

यदि अपराधियों की वैज्ञानिक जांच के फल-स्वरूप राज्य

की यह भंयकर क्षति रुक जाय, या कम हो जाय, यदि इससे नागरिकों के नैतिक, तथा आर्थिक उत्थान में सहायता मिले, तो थोड़ा अधिक व्यय-साध्य होने पर भी, हम इस प्रणाली को मंहगा नहीं समझते। और हां, यह भी तो सम्भव है कि आरम्भ में कुछ समय तक ही व्यय अधिक हो, पीछे इसके अनुसार कार्य चलता रखने में विशेष व्यय का प्रश्न ही न उठे।

अपराधियों की पहिचान—यह तो सब जानते ही हैं कि अपराधियों के लिए एक जगह से दूर दूसरी जगह जाकर रहने लगना, अथवा उसे भी बदल देना, नये नाम से काम करना, पिता और जाति का नाम भी असत्य बतलाना तो मामूली बात है। चेहरे की आकृति बदलने में भी कुछ आदमी बड़े कुशल होते हैं। दाढ़ी और मूछों में इच्छानुसार परिवर्तन करके, बालों की काट में अन्तर करके, या उनका रंग बदल कर भी दूसरों को सहज ही धोखा दिया जा सकता है। कपड़े भी तरह तरह के पहने जाते है, जिससे लोगों को अपराधी का देश या प्रान्त निश्चय करने में बड़ा भ्रम हो जाता है। कुछ समय से अंगूठे के निशान लेने का बड़ा उपयोग हो रहा है; परन्तु यह कार्य बहुत कठिन है, और कुछ दशाओं में तो असम्भव ही होता है।

इन बातों को लक्ष्य में रख कर नये नये अनुसंधान किये जा रहे हैं। उदाहरणवत् पाश्चात्य देशों के कुछ खास खास नगरों के खूफिया विभाग के कर्मचारी, अपराधियों का पता लगाने के लिए

अब कानों का चित्र उतारने लगे हैं। शरीर-शास्त्र वेत्ताओं का अनुभव है कि संसार के किन्ही दो मनुष्यों के कान एक समान नहीं होते, और न एक मनुष्य के दोनों कानों की बनावट ही समान होती है। जांच करने की इस प्रथा में एक विशेषता यह है कि चतुर जासूस किसी व्यक्ति के कान की तसवीर सड़क पर चलते फिरते उतार सकता है, और किसी व्यक्ति के लिए कान को बदल देना सम्भव नहीं है, जब तक कि वह उन्हें कटवा न डाले। अतएव यदि किसी अपराधी के कानों की तसवीर एक वार पुलिस के दफ्तर में पहुंच गई, फिर दूसरी बार अपराध करने पर उसकी गिरफ़ारी बहुत ही साधारण बात हो जायगी।

अपराधियों की खोज—जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, इस समय अपराधी वर्ग सभ्यता और विज्ञान-जनित साधनों से अधिकाधिक सुसज्जित होकर अपने दुष्कृत्यों को सम्पादन करता है। इसमें संतोष की बात यह है कि वे ही साधन उसके मार्ग में सबसे अधिक बाधक भी प्रमाणित हो रहे हैं। तार, टेलीफोन, मुद्रण यंत्रालय, मोटर-साइकल, मोटरकार, और फोटो लेने के यंत्रादि की सहायता से साधारण तथा खूफिया पुलिस कभी कभी ऐसे अपराधियों का पता लगाती है, जिनकी खोज की, अन्य प्रकार से प्राय: आशा नहीं हो सकती। उन्नत देशों में अपराधान्वेषण के लिए अधिकारियों को वे सब सुविधाएं दी जाती है, जो इस समय की उन्नत अवस्था दे सकती है।

उन्हें पकड़ने के लिए भी कुछ विशेष प्रकार की योजनाएं हैं। भारतवर्ष में उनका सूत्रपात किया जा रहा है। पंजाब की पुलिस इङ्गलैंड के स्काटलैंड-यार्ड के ढंग पर एक केन्द्रीय 'क्रिमिनल रिकार्ड आफिस' की योजना कर रही है। इस आफिस में पंजाब भर के अपराधों और अपराधियों के सम्बन्ध में बहुत सा मसाला जमा होगा, जिसके आधार पर तहकीकात की जा सके। किस तरह और किन साधनों से अपराधियों को पकड़ा जा सकता है, इस सम्बन्ध में पूरा साहित्य मिल सकेगा, जिसमें उनका पुराना हाल, पुरानी आदतें, और पूरा विवरण होगा। इस आफिस में अंगूठे और पैर के निशान भी मिल सकेंगे, जिससे अपराधियों की पहचान आसानी से हो सके। यह आशा की जाती है कि इस प्रकार पुलिस अपराधियों को आसानी से पकड़ सकेगी।

अस्तु, उन्नत राज्यों में उस भविष्य के आगमन की सम्भावना है, जब अपराधियों के वैज्ञानिक अस्त्रों तथा युक्तियों पर राज्य के वैज्ञानिक अस्त्रों तथा अन्य व्यवस्था की इतनी विजय हो जायगी कि अपराधियों की जांच, खोज, और गिरफ़ारी सुगमता-पूर्वक हो सकेगी, जिसके फल-स्वरूप उनकी चिकित्सा में यथेष्ट सहायता मिलेगी।

चौथा परिच्छेद

—:o:—

अपराधी सुधारक संस्थाएं

'मेरे अपराध रोग को लोग संक्रामक समझते हैं।.........मैं तड़पता रहता हूँ, हमदर्दी और प्यार की दवा के लिए; पर वे सब दूर से ही दुत्कार देते हैं। दया कर कोई मुझे वह एक ही खुराक दवा देदे, मैं अभी अच्छा हो जाऊं। पर देगा कौन? सभी तो घिनाते हैं। हाय री हृदय हीनता।'

—वियोगी हरि

जैसा कि पहले कहा गया है, अपराध-निवारण के विविध उपाय काम में लाने पर भी, अपराधियों का अस्तित्व थोड़े बहुत परिमाण में बना रहने वाला है। और, यह उचित नहीं है कि उन्हें स्वच्छंद अपराध करने दिया जाय, और समाज सर्वथा अरक्षित रहे। अतः यह आवश्यक है कि ऐसी संस्थाएं पर्याप्त संख्या में हों, जिनसे होने वाली हानि न्यूनतम हो, तथा जो अधिक से अधिक लाभकारी प्रमाणित हों।

जेल या अस्पताल—हम पहले बता आए हैं कि अपराध भी एक प्रकार के रोग हैं। ये प्रायः मानसिक विकारों या बुरी आदतों आदि के परिणाम-स्वरूप होते हैं। अब, हम प्रति दिन देखते हैं कि रोगियों को अस्पतालों में भेजा जाता है, न कि जेलों में। फिर, अपराध-रोगियों के लिए जेलों की व्यवस्था क्यों की जाती है? इनके वास्ते नीति के डाक्टर और नीति के अस्पतालों की व्यवस्था होनी चाहिये। आधुनिक जेलों में आमूल सुधार होने की आवश्यकता है।

जेलों का सुधार—हर्ष का विषय है कि जेलों के सुधार की ओर मानव समाज सेवियों का ध्यान आकर्षित होता जा रहा है। कुछ स्थानों में अब पहले की सी वर्वरता तथा अमानुषिकता नहीं रही है। वहां कैदियों को मिलने वाले भोजन वस्त्रादि सम्बन्धी नियम, अब स्वास्थ-रक्षा की दृष्टि से बनाए जाते हैं। उन्हें यथेष्ट स्वतंत्रता और सुविधाएं दी जाती हैं। जेल के रंग-ढंग में क्रमशः बहुत अन्तर होता जा रहा है।

कुछ समय हुआ, इंगलैंड में जेल-कमिश्नरों ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट में लिखा था कि जेल विभाग को ऐसी कोशिश करनी चाहिये कि कैदी सच्चे और अच्छे नागरिक बन सकें। इससे कैदखाने का सिद्धान्त ही बदल गया। जेल के अन्दर सुधार कार्य शुरू किया गया। लोक-सेवा के भाव से प्रेरित होकर बहुत से आदमियों ने जेल के कैदियों का निरीक्षक

होना स्वीकार किया। पहले कड़े अनुशासन का राज्य था। अब उस के बजाय कैदी पर कुछ जिम्मेदारियां डाली जाती हैं ताकि वह जिम्मेदार व्यक्ति बन सके।

भारतवर्ष जैसे अवनत राज्य में भी जनता के आन्दोलन से, प्रथम ('ए') श्रेणी के कैदियों की, तथा कुछ अंश में द्वितीय ('बी') श्रेणी के कैदियों की भी—जिन सब की संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम होती है—दशा कुछ अच्छी रहने लगी है, यद्यपि वह पूर्णतया सन्तोषप्रद नहीं कही जा सकती। वास्तव में, जैसा कि पं० जवाहरलाल जी नेहरू ने लिखा है, जेलों के सुधार के प्रश्न का अर्थ होता है, जाब्ता फौजदारी का सुधार, और इससे भी ज्यादा न्यायाधीशों की मनोवृत्ति का सुधार, जो अब भी सौ वर्ष पहले के तरीके पर सोचते हैं, और दंड तथा सुधार के आधुनिक विचारों से आनन्द-पूर्वक अनभिज्ञ हैं। इस प्रकार विचार करने से सम्पूर्ण शासन प्रणाली के परिवर्तन का प्रश्न सामने आ जाता है।

अस्तु, अब हम 'प्रताप' आदि विविध पत्र पत्रिकाओं के आधार पर योरप अमरीका के भिन्न भिन्न देशों के कुछ नये ढंग के जेल आदि का परिचय देते हैं। यद्यपि ये संस्थाएं सर्वथा आदर्श नहीं हैं, तथापि इनसे सुधारकों को इस विषय में अच्छी विचार-सामग्री मिल सकती है।

स्पेन की सुधार संस्थाएं—स्पेन के नवीन प्रजा तंत्र के जेल विभाग ने अपने अधीन जेलों को 'सुधार संस्था' बनाने का

प्रयत्न आरम्भ कर दिया है। वहां कैदी अपनी स्त्री से एकान्त में मिल सकते हैं। प्रत्येक मास में कैदी जमानत पर कुछ दिन की छुट्टी लेकर घर जा सकते हैं, तथा कैदियों को सुखी बनाने के लिए और भी कई सुधार किए गए हैं।

स्वीडन का नया जेल—स्वीडन के पश्चिमी भाग में बारह वर्ष से एक नये प्रकार का जेल, प्रयोग के लिए स्थापित है। इस में न तो काल-कोठरियां हैं, और न भीतरी या बाहरी चार-दीवारी या किसी प्रकार का घिराव। यहां से कैदी चाहें तो बड़ी आसानी से निकल कर चले जा सकते हैं। यहां उनके लिए चार-दिवारी या पहरा उनकी ईमानदारी और सच्चाई ही है। इस जेल में प्रायः लम्बी मियाद वाले कैदी ही रखे जाते हैं। तारीफ की बात है कि इस खुले जेल से आज तक एक भी कैदी भाग कर नहीं गया। नये आने वालों को भी, पुराने कैदी ईमानदारी की शिक्षा देकर अच्छा बना लेते हैं।

इंगलैंड का बोर्स्टल जेल—बोर्स्टल के नवयुवक अपराधियों में ज्यादातर, जेल इसलिए पहुंच जाते हैं क्योंकि वे बेकार रहते हैं और कुसंगत में पड़ जाते हैं। ऐसे लड़के या लड़कियों का, केवल कड़े अनुशासन से या कोरे नियमों के पालन से क्या सुधार हो सकता है? इसी लिए वहां पर उन्हें कुछ काम सिखाया जाता है, और साथ ही साथ जिम्मेदार बनने की शिक्षा दी जाती है। कुछ वर्षों बाद, इस समय जिसने इंगलैंड के जेलखाने देखे

होंगे, वह अनुभव करेगा कि अपमान का वातावरण कहां तक नष्ट किया जा सका है। इस समय कैदियों को 'सेफ्टी रेज़र' से अपनी हजामत बनाने की इजाजत है, वे अपने बाल भी ठीक कर सकते हैं। वे चित्र और फोटो भी नियमानुकूल रख सकते हैं।

केवल ऊपरी बातों में ही परिवर्तन नहीं हुआ है। कैदखाना अब वह जगह नहीं रह गई है, जिसके मुख्य द्वार पर यह लिख दिया जाय कि "जो भी इस में प्रवेश करे, वह आशा छोड़ दे।" जिन कैदियों की सज़ा की अवधि थोड़ी होती है, उनके सम्बन्ध में अधिक कुछ करना सम्भव नहीं है। लम्बी सज़ा वाले कैदियों के ही सुधार का काम हाथ में लिया जा सकता है। अब कैदियों की श्रेणियां बना दी जाती हैं। जैसे ही कोई कैदी जेल में प्रवेश करता है, उसे यह अनुभव करा दिया जाता है कि वह बहुत कुछ हद तक, अपना उद्धार स्वयं कर सकता है। हर एक कैदी के सामने बहुत से सुअवसर होते हैं। जितना अच्छा वह व्यवहार करता है, और जितना परिश्रम वह करता है, उतना ही वह आत्म-गौरव तथा स्वतंत्रता प्राप्त करता है।

जेल के पुस्तकालयों की दशा में भी बड़ी उन्नति हो गई है। कैदियों को किताबें भी पहिले से अधिक स्वतंत्रता-पूर्वक दी जाती हैं। कुछ जेलखानों में कैदियोंके रिश्तेदार किताबें जमा कर सकते हैं, परन्तु ये किताबें जेल का 'चैपलेन' देखकर ही कैदी को

देता है। कैदी के उपयोग के बाद ये किताबें जेल के पुस्तकालय ही रह जाती हैं। बहुत से कैदी अपना समय कुछ खास विषयों को विशेष रूप से अध्ययन करने में बिताते हैं। कुछ लोग विदेशी भाषाएं ही सीखते हैं।

केनाडा का आदर्श जेल—ओंटेरियो (कनाडा, अमरीका) के गेल्फ नगर के जेल में एक हजार एकड़ का खेत, फलों का बागीचा, ऊनी कपड़े की मिल, लकड़ी और चमड़े के कारखाने तथा पत्थर की खान है। इसमें सात सौ से ऊपर कैदी हैं, जिनमें से बहुत से भयंकर अपराधी हैं, सौ तो आ-जन्म कैदी ही हैं। ये लोग उपर्युक्त स्थानों में कोई न कोई काम करते हैं। जिसे जो काम आता है, उसे वही काम करने को दिया जाता है। और, जिसे ये काम नहीं आते, इनमें से कोई सिखा दिया जाता है। कैदी जो काम करता है, उसकी मजदूरी, उसके कैद से छूटने के समय तक जमा होती रहती है, या उसके घर भेज दी जाती है। प्रत्येक कैदी के रहने और भोजन करने का अच्छा प्रबन्ध है, और काम तथा मनोरंजन के काफी साधन मौजूद हैं। यह जेल-खाना बीस वर्ष से इसी ढंग पर चल रहा है, पर अब तक यहां कभी कोई उपद्रव नहीं हुआ है। कोई कैदी चाहे तो यहां से बड़ी आसानी से भाग सकता है, पर वर्ष भर में मुश्किल से एक दो ही यहां से भागते हैं।

संयुक्त राज्य अमरीका की व्यवस्था—अमरीका के

संयुक्त राज्यों में दंड, केवल दंड देने के लिए नहीं दिया जाता। साधारण अपराधी जो बहकावे में आकर, बुरी संगति में पड़ कर, या जरूरत के फेर में लाचार होकर प्रथम अपराध कर बैठते हैं, उन्हें जेल के अन्दर नहीं रखा जाता। जेल-सहायक-विभाग ऐसे लोगों की देख-रेख के लिए अफसर रखता है। अपराधी को एक निर्धारित अवधि के लिए इन अफसरों की देख-रेख में रह कर काम करना होता है, उनकी अनुमति बिना वह नगर की सीमा के बाहर नहीं जा सकता; बस, इतना ही वह परतंत्र रहता है। चालचलन सुधरते ही, इस बन्धन से भी उसकी मुक्ति हो जाती है। अथवा, उद्दंडता दिखाने पर उसे 'कारागार' के दर्शन कराए जाते हैं। अब 'कारागार' की व्यवस्था देखिए।

यहां कोई अपराधी दस वर्ष से अधिक जेल में नहीं रहता। इस अवधि के बीच, उसे अपना सुधार करने का यथेष्ट अवसर दिया जाता है, और किसी कैदी के सुधार के प्रयत्न करने का प्रमाण मिलने पर, अधिकारी उसे प्रोत्साहन देने के लिए उसकी, कारागार की अवधि घटा देते हैं। कैदियों को जेल में व्यापार और कला कौशल की शिक्षा दी जाती है। मनोविज्ञान के विशेषज्ञ, कैदियों की मनोवृत्ति का अध्ययन कर उनके दुर्विचारों के परिवर्तन करने में सचेष्ट रहते हैं, और उनकी बुद्धि तथा शक्ति के अनुसार ही उन्हें शिक्षित करते हैं।

जेल के विशाल घेरे के अन्दर सैकड़ों की संख्या में स्वच्छ,

हवादार कमरे बने रहते हैं, जिनमें से प्रत्येक में कुर्सियाँ, मेजें, अलमारियां सजी रहती हैं, एवं तेल, साबुन, तौलिया, काग़ज, पेन्सिल, जैसे आवश्यकता के सामान मौजूद रहते हैं। जेल के कमरों की जमीन साफ़ सुथरी रंगीन दरी से ढकी रहती है, खिड़कियों पर दूध के समान सफेद पर्दे लहलहाते रहते हैं, और कमरों की दीवारों पर देश के महापुरुषों के चित्र टंगे रहते हैं। प्रत्येक जेल में एक पुस्तकालय और वाचनालय अवश्य होता है, उनमें सभी सुरुचि-पूर्ण पुस्तकें और समाचार पत्र रहते हैं, जिन्हें कैदी नित्य घन्टों पढ़ा करते हैं। अमेरिका में कैदी को योग्यता-नुसार नित्य चार-पांच घंटे काम करना होता है। सुबह की हाजरी, दोपहर का खाना, सायंकाल की चाय और रात्रि का भोजन सब समय से मिलता है। भोजन के सामान में बिस्कुट, डबल-रोटी, आलू, तरकारी, अन्डे, मांस और मक्खन सभी वस्तुएँ रहती हैं। निदान, जेलों में पौष्टिक और रुचिकर खाने का बन्दोबस्त है। वहां हथकड़ी-बेड़ी डालने का नियम नहीं है, खड़ी हथकड़ियों में अमानुषिक तौर से टांगे जाने का तो वहां कोई नाम भी नहीं जानता।

रूस में कैदियों से व्यवहार—रूस में कैदियों से ऐसा व्यवहार किया जाता है कि वे अपने उद्धार की पूर्ण आशा और विश्वास रखते हैं। वे शिक्षा, स्वास्थ, मनोरंजन और विश्राम के विविध साधनों से सम्पन्न रहते हैं। उनके कमरे में प्रभावकारी

चित्र, तथा आस पास प्राकृतिक सौन्दर्य के दृश्य उपस्थित रहते हैं। वे अपने मित्रों तथा बाल बच्चों से एकान्त में मिल सकते हैं। अच्छा व्यवहार करने वाले व्यक्ति सप्ताह में एक दिन शहर में, या अपने घर जा आ सकते हैं। गर्मियों में उन्हें १५ दिन की छुट्टी होती है। किसान-अपराधियों को यह छुट्टी उनकी फसल के अवसर पर दी जाती है। जेल में रहते हुए वे लकड़ी लोहे का, या कपड़ा बुनने का काम सीख लेते हैं। वहां वे अपने परिश्रम से जो उपार्जन करते हैं, उसका एक-तिहाई उन्हें वहां ही खर्च करने को मिल जाता है, और उनका शेष धन उन्हें जेल छोड़ने पर दे दिया जाता है; इस प्रकार उन्हें अपने भावी जीवन में आर्थिक वाधा उपस्थित नहीं होती। उन्हें कभी हथकड़ी-बेड़ी नहीं पहराई जाती। वहां 'वार्डर' भी बिना हथियार के रहते हैं। कैदियों को पुस्तकालय और वाचनालय के उपयोग का अधिकार है। वे अपना पत्र-पत्रिका निकालने, और समय समय पर अपने घर वालों तथा इष्ट बन्धुओं को पत्र लिखने के लिए भी स्वतंत्र होते हैं। उनके साथ कोई सख्ती नहीं की जाती, वे सुखी और प्रसन्न रखे जाते हैं। जेल से निकलने पर वे अच्छे राजनीतिज्ञ, योद्धा, सुधारक, शिक्षक या उपदेशक आदि बनकर निकलते हैं।

स्त्री-कैदियों में जिसके बच्चा पैदा होता है, वह चाहे तो उसे रक्षण-गृह में रख सकती है, जहां उसकी पूरी देख-रेख की जाती है, और चाहे तो उसे अपने मकान पर छोड़ सकती है। दूसरी

सूरत में माता को दिन में कई बार बच्चे को दूध पिलाने के लिए घर जाने की इजाज़त होती है।

अन्य देशों की अपेक्षा रूस के अधिकतर जेलों की अवस्था अच्छी है। इसका मुख्य कारण यह है कि वहां क्रान्ति के बाद सरकार का नवीन संगठन हुआ है, और अधिकांश नये अधिकारी किसी न किसी समय जेल के मेहमान रह चुके हैं। अधिकारारूढ़ होने पर इन्होंने जेलों तथा दंड प्रणाली को सुधारने में यथेष्ट ध्यान दिया है।

विचारणीय बात—उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि वैज्ञानिक तथा मानवोचित सिद्धान्तों से काम लेते हुए भी जेलखाने बड़ी सफलता से चलाए जा सकते हैं। आशा है, विविध देशों के अधिकारी इस अनुभव से लाभ उठाएंगे, और जिस सुधार को अब कुछ उदाहरण ही मिल रहे हैं, उसे वे भविष्य में यथेष्ट मात्रा में कार्य में परिणत करेंगे।

कुछ आदमियों को यह आशंका हो सकती है कि जेलों में सुधार होने से, कैदियों को अधिक सुविधाएं और आराम मिलने से, प्रत्येक स्थान में कैदियों की संख्या बेहद बढ़ जायगी। निस्सन्देह भारतवर्ष आदि देशों में कुछ भूख प्यास से त्रस्त, और मौत को हर घड़ी सिर पर देखने वाले व्यक्तियों के कभी कभी जेल जाने की इच्छा के उदाहरण मिलते हैं, परन्तु यह चिन्तनीय स्थिति उसी समय तक है, जब तक राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था

राष्ट्र-हित घातक या लोक मत विरोधी है। स्वाभाविक स्थिति में कोई आदमी अपनी स्वतंत्रता, पारिवारिक जीवन, अपने स्थान के निवास और सुपरिचित व्यक्तियों की संगति आदि के सुख का त्याग करना नहीं चाहता। अस्तु, अच्छे व्यवहार से जेलों के ठसाठस भरने का भय निर्मूल है; हां, लोगों की आर्थिक स्थिति भी अच्छी होनी चाहिये, जैसा कि सुशासन में होगी ही।

कैदियों का पारस्परिक भलाई संघ—यहां एक और प्रकार की संस्था का भी परिचय देना उपयोगी होगा, जिससे कैदियों का बड़ा हित हुआ है, और, जिसका अनुकरण स्थान स्थान पर होना आवश्यक है। इस का नाम है 'कैदियों का पारस्परिक भलाई संघ'। यह संघ पहले पहिल आवर्न (संयुक्त राज्य, अमरीका) में स्थापित किया गया था। इस संघ की प्रथा कैदियों पर बल-पूर्वक नहीं लादी जाती, वरन् कैदी स्वयं इसके लिए अपनी इच्छा प्रकट करते हैं। संघ का चुनाव कैदी ही करते हैं, अधिकारी उसमें हस्तक्षेप नहीं करते। संघ समष्टि-रूप से प्रत्येक कैदी के व्यक्तिगत आचरण के लिए उत्तरदायी होता है। वह कैदियों को सुधारने में कटिबद्ध रहता है, उनकी नशेबाजी, गाली-गलौच तथा दुर्व्यवहार को रोकता है। इस प्रकार, इससे सुपरिंटेन्डेन्ट तथा जेलर को अपने प्रबन्ध-कार्य में बहुत सुविधा रहती है। और, वे संघ की सहायता से कैदियों सम्बन्धी कार्य में उन्नति करते, और उन्हें अधिकाधिक सुविधाएं देते रहते हैं। ऐसा संघ

स्वावलम्बन का बहुत अच्छा उदाहरण है। अपने उद्धार के लिए दूसरों के आश्रित न रह कर, जहां तक बन आवे, प्रत्येक वर्ग या समूह को स्वयं प्रयत्न करना चाहिए। उसके अग्रसर होने पर, अन्य व्यक्तियों तथा संस्थाओं से सहयोग और सहायता मिलने की आशा अधिक होती है, तथा उस में सफलता भी अधिक मिलती है। कैदी-बन्धु स्मरण रखें; जो अपनी सहायता स्वयं करता है, उसकी सहायता परमात्मा करता है।

उपर्युक्त योजना पर विचार—अपराधी सुधारक संस्थाओं (नवीन ढंग के जेलों) तथा कैदियों के पारस्परिक भलाई संघ से अपराधियों के सुधार तथा समाज की रक्षा का वह उद्देश्य अधिकांश में पूरा हो जाता है, जिसे आज कल जेलखाने की पद्धति पूरा करने का दम भरती है, परन्तु जिसे पूरा करने में वह बुरी तरह असफल रहती है। यों तो मनुष्य की बनाई किसी योजना के सम्बन्ध में पूर्णता का दावा नहीं किया जा सकता, उसमें सुधार और विकास की गुंजायश सदैव रहती है; तथापि यह कहा जा सकता है कि यदि नवीन योजना से सौ फी सदी सफलता न भी हो तो कम से कम उस को व्यवहार में लाने से, समाज वर्तमान दंड विधान की लगभग सौ प्रतिशत विफलता से होने वाले दुष्परिणाम से तो बच ही जायगा।

सरकारों का कर्तव्य—वर्तमान दशा में राष्ट्र के प्रायः सब कामों में सरकार के सहयोग की आवश्यकता होती है।

उसके मिल जाने से कार्य की गति तीव्र हो जाती है, उस में सफलता जल्दी मिल जाती है। फिर अपराधों का विषय तो प्रायः राज्य के ही नियंत्रण में रहता है। इस लिए इस विषय में किसी नयी योजना को कार्य में लाना बहुत कुछ उसी पर निर्भर है। समय समय पर शासकों में ऐसे विचारशील सज्जन मिल जाते हैं जो अपराधियों पर जोर ज़ुल्म करने की अपेक्षा उनके साथ सहानुभूति का व्यवहार करने, तथा उनकी वैज्ञानिक चिकित्सा कराने के पक्ष में होते हैं। किन्तु ऐसे भावों को वे बहुधा कार्य में परिणत नहीं करते। यदि वे चाहें तो अपने शासनकाल में, अपने क्षेत्र में इस विषय का बड़ा प्रशंसनीय और अनुकरणीय कार्य कर सकते हैं। परन्तु प्रायः वे अपना कर्तव्य केवल मौखिक सहानुभूति दर्शाने तक ही समझते हैं। वे इस महान कार्य का भार सुधारकों के कन्धों पर पटक देते हैं। वे भूल जाते हैं कि जनता के आदमी तो सरकार के प्रयत्न में सहायता करने का ही काम विशेष रूप से कर सकते हैं। कार्य को सम्पादन करने का उत्तरदायित्व मुख्यतः सरकार पर है, और उसे यह करना चाहिये। आह! यदि सरकार और जनता में यथेष्ट सहयोग हो, अथवा दोनों में द्वैत भाव न होकर जनता ही सरकार हो, तो समाज सुधार सम्बन्धी वह कौनसा कार्य है, जो हो न सके!

पाचवां परिच्छेद

—:o:—

अपराधों की वैज्ञानिक चिकित्सा

"वह महापुरुष कब अवतरित होंगे, जो गुमराह जनता को, पथ-विचलित शासकों को आदेश करेंगे कि जेलों का फाटक बन्द कर दो! आवश्यकता हो तो मनोविज्ञान वेत्ताओं के निरीक्षण में मानसिक चिकित्सालय कायम करो। तभी उद्धार होगा।"

प्राक्कथन—इस पुस्तक के इस खंड में हमने अपराधों एवं अपराधियों के सम्बन्ध में आवश्यक बातों का ज्ञान प्राप्त किया। पिछले परिच्छेद में विविध स्थानों में नये ढग की अपराधी-सुधार संस्थाओं का विवेचन किया गया। अब अपराधियों की चिकित्सा के सम्बन्ध में विचार करना है। यह तो स्पष्ट ही है कि सब प्रकार के अपराध-रोगों के लिए कोई एक बना-बनाया नुस्खा, या रामबाण औषधि नहीं बताई जा सकती। हम देखते हैं कि सुयोग्य चिकित्सक एक ही रोग से ग्रसित भिन्न भिन्न रोगियों के लिए उनकी रुचि और प्रकृति आदि के अनुसार, तरह तरह के

उपाय काम में लाता है, फिर एक प्रकार के सब अपराधियों को, एवं बहुधा विविध प्रकार के अपराध करने वालों को कानून द्वारा एक ही लाठी से क्यों हांका जाय? सब को कुछ कम ज्यादह जुर-माने या कैद आदि के दंड-रूप औषधि सेवन करने को क्यों विवश किया जाय? कौन आदमी किस बात से अपराध करने में कहां तक रुकता है, इसका निश्चय करना आसान काम नहीं है, यह कार्य सोच समझकर किया जाना चाहिये। इसमें प्रत्येक अपराधी के भिन्न भिन्न व्यक्तित्व का विचार करना होगा। कुछ आदमी ईश्वर के भय से, कुछ आदमी सामाजिक अपमान के विचार से, और कुछ आदमी राज्य के डर से कुमार्ग-गामी होने से बचते हैं। इसलिए विविध श्रेणियों के अपराधियों के सम्बन्ध में आगे कही हुई बातें केवल मार्ग-दर्शक का ही काम दे सकती हैं, सुयोग्य चिकित्सकों तथा चिकित्सा-संस्थाओं को अपने अनुभव, मनो-विज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र के आधार पर, उनमें आवश्यक संशोधन या परिवर्तन कर लेना चाहिये।

जन्म-जात अपराधी और नैतिक दृष्टि से पागलों के लिए—इन्हें साधारण बन्दी-गृहों में नहीं रखा जाना चाहिये, ये साधारण अपराधियों को बिगाड़ते हैं। ये स्वभाव से असन्तुष्ट होते हैं, इन्हें किसी बात पर या किसी व्यक्ति का विश्वास नहीं होता। ये वार्डर या पहरुए आदि को अपना शत्रु समझते हैं, इनके कारण बहुधा उपद्रव होते रहते हैं।

इन्हें पागलखानों में रखना और भी अधिक हानिकर होता है, क्योंकि ये दूसरों को भागने, तथा लूट मार और उपद्रव करने की प्रेरणा करते रहते हैं, साधारण पागलों को ये बातें कभी नहीं सूझती। ये अपने असभ्य व्यवहार और भयानक प्रसिद्धि से शान्त अपराधियों के लिए आतंक और घृणा का कारण बन जाते हैं। ये उन्हें चंचल, और असंतुष्ट बनाते हैं। इनका विचार होता है कि सब इनसे दुर्व्यहार करते हैं तथा इनका अपमान करते हैं, ये ही भाव ये दूसरे साथियों में भरते रहते हैं।

जन्म-जात अपराधियों को स्वच्छन्द रूप से रहने के लिए छोड़ना तो अत्यन्त ही घातक है। इन्हें विशेष संस्थाओं में बन्द करके रखना चाहिये, जहां इनका इलाज हो, अथवा, कम से कम ये स्थाई रूप से अन्य लोगों से पृथक् रहें, जिससे समाज की, इनके उपद्रवों से यथेष्ट रक्षा हो।

स्मरण रहे कि यद्यपि जन्मजात अपराधियों में कुछ कुभावनाएं होती हैं, परन्तु इनके साथ ही उनमें कुछ उत्तम गुणों का समावेश भी रहता है। उदाहरणार्थ उनमें प्रायः तीक्ष्ण बुद्धि, साहसिकता और परिवर्तन-प्रेम का अंकुर यथेष्ट मात्रा में होता है। जंगली भू-भागों में बस्तियां बसाने, प्रतिस्पर्द्धा-मूलक दौड़ कूद आदि करने, सरकस आदि पेशों में मोटर या साइकल चलाने आदि के ऐसे कार्य, जिनमें अत्यन्त साहस और फुर्ती आदि की आवश्यकता होती है, और पीछे सुदीर्घ विश्राम मिल जाता

है, उनकी प्रवृत्ति के बहुत अनुकल होते हैं। कुमार्गगामी व्यक्तियों को, जो, अपराधी बनने वाले हों, यदि अपनी बुद्धि और योग्यता के उपयोग करने का अवसर मिल जाय तो उनमें विलक्षण परिवर्तन हो जाता है।

शारीरिक कारणों से अपराध करने वालों की चिकित्सा— शारीरिक कारणों से अपराध करने वालों में ऐसे भी व्यक्ति होते हैं, जो जन्म-ज्ञात अपराधी नहीं होते, वरन् अपने जीवन के किसी विशेष समय में भारी चोट या बीमारी आदि के कारण अपराध प्रवृत्ति वाले बन जाते हैं। कोई व्यक्ति कौन से अपराध अपनी शारीरिक परिस्थिति से वाध्य होकर करता है, इसका ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त कर सकना आसान काम नहीं है, तथापि सुयोग्य शरीर शास्त्रवेत्ता इसका बहुत-कुछ पता लगा सकते हैं। अपराधियों की सूक्ष्म जांच की जानी चाहिये, और यदि उनमें शारीरिक कोई विकार ऐसा हो, जिसके कारण वे अपराध करने को प्रेरित होते हों, तो उनके उस विकार को दूर किया जाना आवश्यक है।

उदाहरण—कुछ समय हुआ, अमरीका में एक विद्यार्थी था, उसका व्यवहार और स्वभाव आदि सब निर्दोष था। परन्तु उसमें एक बड़ी बुरी आदत थी। वह अपने बाईं ओर बैठने वाले विद्यार्थी (या अन्य आदमी) को मारा करता था। यह अपराध वह नित्य किया करता था। उसे बार-बार दंड दिया गया, परन्तु

उसका सुधार ही न हो सका। अध्यापक उससे तंग आ गए, साथ ही उन्हें यह आश्चर्य था कि वह विद्यार्थी और कोई अपराध नहीं करता, उसकी मनोवृत्ति में कोई विशेष विकार नहीं मालूम होता, फिर वह केवल अपने बाईं ओर वाले को ही क्यों मारता है। संयोग से एक सुप्रसिद्ध डाक्टर उधर आए, बात-चीत में उनसे इस विद्यार्थी की चर्चा की गई। उन्होंने उसकी जांच की तो मालूम हुआ कि उसके उदर में बाईं ओर कुछ शरीर सम्बन्धी विकार हैं। उन्होंने उसकी सम्यक् चिकित्सा की। तदुपरान्त उस विद्यार्थी ने कभी पूर्वोक्त अपराध नहीं किया।

इसी प्रकार एक और घटना विचारणीय है। एक आदमी चोरी किया करता था। उसे बहुतेरा ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया गया, पर उसके व्यवहार में कुछ सुधार न हो पाया। बात यह थी कि उसके मस्तिष्क की कोई नस अपनी जगह से कुछ हटी हुई थी; उसके कारण वह चोरी किया करता था। एक दिन वह आदमी अनायास किसी ऊंची जगह से सिर के बल गिर गया। इससे उसकी वह नस ठीक जगह पर आगई। तब से उसकी चोरी करने की आदत एक दम छूट गई।

ऐसी अन्य घटनाओं के उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। इनसे मिलने वाली शिक्षा स्पष्ट है। हमारे अपराध-चिकित्सकों को इस पर यथेष्ट ध्यान देना चाहिये।

छोटे अपराधी—छोटी उम्र के अपराधियों के विषय में विशेष रूप से, पृथक् विचार किया जाना चाहिए। उनके लिए अदालतें अलग होनी चाहिये। ऐसा न होने की दशा में, उन्हें मामूली अपराधों के करने पर, जो उनकी उम्र में होना स्वाभाविक ही हैं, साधारण अदालतों अथवा जेलखानों में घोर अपराध करने वालों के संसर्ग में आना पड़ता है, यह बात नैतिक दृष्टि से बहुत घातक है।

उन्नत राज्यों में, अपराधी बालकों के विचार के लिए, पृथक् अदालतें हैं। इनमें जाना अपयश की बात नहीं मानी जाती। अनेक बार स्वयं माता-पिता ही, जब वे अपने बालकों को नियंत्रित नहीं कर सकते, उन्हें इनमें भेज देते हैं। इन अदालतों के विषय में संयुक्त-राज्य अमरीका की व्यवस्था से अच्छा ज्ञान प्राप्त होता है। वहां ये अधिक पूर्णता को पहुंची है। इनमें मेजिस्ट्रेट न्याय-पति की अपेक्षा पिता की सी भावना से अधिक काम करता है। उसे, उसके कार्य में, अन्य अधिकारी सहायता देते हैं, जो अपराधी बालकों के चरित्र, स्वभाव, आदि के विषय में, उनके माता-पिता, पड़ोसी, और अध्यापकों आदि से आवश्यक बातें मालूम करते हैं। दंड बहुत कम दिया जाता है, कैद आदि की सजा तो होती ही नहीं; बालकों की भिन्न भिन्न प्रकृति या अवस्था का विचार करके, व्यवहारोपयोगी अनुभव के आधार पर ही दंड निश्चित किया जाता है। उदाहरणवत् एक बालक पर बिना किराया

दिए यात्रा करने का अभियोग था। उसे यह दंड दिया गया कि उस विषय सम्बन्धी कानून की बीस बार नकल करे, उसे कंठ करे, और उसी अदालत में एक महीने बाद सुनाए। इस प्रकार मेजिस्ट्रेट बालकों के अनेक साधारण दोषों को दूर करने का प्रयत्न करता है, और बहुत-कुछ सफल होता है।

सुधार-शालाएँ—गुरुतर अपराधों की दशा में, बालकों को निजी, सार्वजनिक या सरकारी सुधारशालाओं (रिफार्मेट्रियों) में भेजना ठीक है। इनमें उसकी भिन्न भिन्न स्थिति और आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा मिलनी चाहिये। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि बालक दूसरों के विश्वास-पात्र बनें और सामाजिक शृङ्खला में अपने उत्तरदायित्व को समझने लगें। इस व्यवस्था का एक आवश्यक अङ्ग यह है कि अनुभवी मनोविज्ञान-वेत्ता सुधारक उन पर विश्वास करके दिखाएँ। किसी व्यक्ति को बार-बार चोर या बेईमान कहने या प्रसिद्ध करने से उसका सुधार होना तो दूर रहा, उसे अधिक पक्का चोर और बेईमान होने में सहायता मिलेगी। वास्तव में किसी मनुष्य की बार-बार निन्दा करने से तथा, उसे घृणित समझने से वह प्रायः निन्दा और घृणा के ही योग्य हो जाता है। इसके विपरीत, किसी से प्रेम करने से, उसे पास बैठाने से, और उस पर विश्वास करने से उसके मन में अद्भुत् परिवर्तन होता है। वह स्वयं आत्म-सुधार करने लग जाता है, और इसमें बहुत-कुछ सफल होता है।

स्त्री-अपराधियों का विचार—हम पहले बता चुके है कि स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा कम मात्रा में, और साधारणतया कुछ खास खास प्रकार के ही अपराध किया करती हैं। अपराध-शास्त्रियों का मत है कि उन्हें क़ैद की सज़ा न दी जानी चाहिये। अधिकतर दशाओं में मेजिस्ट्रेट उन्हें डाट-डपक कर ही छोड़ दें, अथवा कुछ शर्तों पर रिहा कर दिया जाय। उनकी, घर में बहुत उपयोगिता होती है, और पत्नि या माता की थोड़े दिन की पृथक्‌ता से भी परिवार को बड़ी हानि पहुंचती है। उनके अपराधों का विचार करने के लिए विशेष अदालतों की आवश्यकता है, उनके सम्बन्ध में, कानून में इस बात का लिहाज रखा जाना चाहिये कि परिवार में उनका बड़ा महत्व है। साधारणतया स्त्रियां हिन्सात्मक तथा घोर अपराध कम करती हैं; हां, कुछ स्त्रियों में अपराध-प्रवृत्ति असाधारण रूप से होती है, वे जन्म-जात अपराधिनी, पागल या नैतिक पागल होती हैं। उन ठग, हत्यारी या विष खिलाकर मारने वाली स्त्रियों को अलग सुधार-शाला में भेजना ठीक होगा, जहां उनके लिए कुछ श्रम करना और मौन रहना अनिवार्य हो।

भावुक अपराधी—इन्हें कानूनी दंड की अपेक्षा स्वयं-कृत पश्चाताप का दुख अधिक होता है, अतः इन के लिए केवल यह होना चाहिये कि इन्हें इनके निवास स्थान (ग्राम या नगर) से, और उस स्थान से दूर कर दिया जाय, जहां इनके

द्वारा क्षति पहुंचाया हुआ व्यक्ति रहता हो; हां, इनके द्वारा, पीड़ित व्यक्ति की क्षति-पूर्ति द्रव्य अथवा अनिवार्य श्रम के रूप में करादी जाय। इन्हें कैद न किया जाय। ये व्यक्ति साधारणतः समाज को क्षति पहुंचाने वाले नहीं होते, बहुधा औसत दर्जे के नागरिकों से अच्छे होते हैं, और अत्यधिक भावना के कारण ही अपराध करने को प्रेरित हो जाते हैं, जिसका सन्मार्ग में उपयोग किया जा सकता है।

भावुक अपराधी अपनी मानसिक परिस्थिति के कारण अपराध करने वाले होते हैं, इस विषय में कुछ बातें आगे दी जाती हैं।

मानसिक कारणों से अपराध करने वालों की चिकित्सा—चाहे यह बात आश्चर्य-जनक प्रतीत हो, ऐसे मनुष्यों में साधारण, अशिक्षित, असभ्य या निर्धन व्यक्ति ही नहीं, लेखक, अध्यापक, बड़े बड़े पूंजीपति, व्यवसायी तथा उपदेशक, सुयोग्य जज, बेरिस्टर, आदि भी होते हैं। मानव समाज के लिए यह बात कैसी अशुभ-सूचक है कि जिन व्यक्तियों से यह आशा की जाती है कि वे दूसरों के पथ-प्रदर्शक बनें, वे स्वयं अपना भी, परीक्षा का अवसर आने पर, यथेष्ट नियंत्रण न कर सकें, प्रतिकूल अवस्था का सम्यग् विरोध न कर, अपनी निर्बलता और पराजय का परिचय दें।

कुछ समय हुआ इंगलैंड के सुप्रसिद्ध जज श्रीमान् मेककर्डी

ने आत्म-हत्या की। कैसा निराशा जनक समाचार है! इस सुविख्यात जज ने कितने रहस्यमय मामलों का योग्यता-पूर्वक फैसला किया होगा, कितनी ही आत्म-हत्याओं के विषय में भी अपना निर्णय दिया होगा। अफसोस! उन्हों ने ऐसा कार्य कर डाला, जिससे उनके मर जानेका, और दूसरे जज को उन के ही विषय में फैसला देने का अवसर आया।

इस घटना के सम्बन्ध में पत्र पत्रिकाओं में बहुत चर्चा हुई है। हम एक सुयोग्य लेखक के ऐसे विचार पाठकों के सामने प्रस्तुत करते है, जिनसे इसके व्यापक रूप पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है, तथा मानसिक कारणों से अपराध करने वालों की चिकित्सा के सम्बन्धमें अच्छी जानकारी होती है।* उक्त लेखक का कथन है कि मैं विद्वान विचारक की इस सम्मति से सहमत हूँ कि मेककर्डी विक्षिप्त हो रहे थे; पर इसके साथ ही मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि उन्होंने मृत्यु के एक सप्ताह पूर्व किसी रुचिकर साथी को लेकर, कुछ घोड़े लेकर, किसी एकान्त स्थान की यात्रा की होती, और वहां प्रकृति के साथ अपना मनोविनोद किया होता तो वे आज जीवित होते।'

एक स्वयं अनुभूत घटना—आगे लेखक स्वयं अपना एक अनुभव इस प्रकार बतलाता है। कुछ समय हुआ, मैं समुद्र

*'डेली एक्सप्रेस' से अनुवादित 'जागरण' के एक लेख के आधार पर।

पार कर न्यूयार्क गया। ज्योंही मैं साउथहैम्पटन बन्दरगाह पर, जहाज़ पर चढ़ा, मेरे एक साधारण परिचित व्यक्ति ने मुझसे अनुरोध किया कि मैं उसके कमरे में चलूँ।

मैं ने कहा—ज़रा एक क्षण ठहर जाइये। मैं कुछ मित्रों से विदा ले लूँ।

मैं किनारे की ओर झुका और वह पीछे मुड़ गया।

तब हम एक साथ जहाज के डेक पर चलने लगे; पर वह व्यक्ति भीतर की ओर ही चलता रहा। उसने मुझसे 'डेक' के बन्द तथा घिरे हुए स्थान में बैठने के लिए कहा।

उसने कहा—मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि यह मेरी अन्तिम यात्रा है।

मैं ने अपना प्रश्न बहुत ही साधारण प्रकार से किया—तुम ऐसा क्यों कहते हो?

उसने मुझसे शपथ ली कि मैं किसी से उसकी बात न कहूँगा, और बतलाया—मैं जानता हूँ कि किसी-न-किसी समय मैं जहाज पर से कूद पड़ूंगा।

मैं ने उससे पूछा—क्या तुम पर कोई सङ्कट आ गया है?

उसने कहा—नहीं।

'तब तुम क्यों कूदना चाहते हो?'

उसने कम्पित स्वरों में उत्तर दिया—मैं इस प्रेरणा को रोक

नहीं सकता। मुझे कोई एक हजार पौंड भी दे, तब भी मैं अकेले इस डेक पर नहीं टहल सकता।

निस्सन्देह यह व्यक्ति घोर ऐन्द्रिक दुर्बलता से पीड़ित था। मैं ऐसी दशाओं से काफी परिचित हूँ। मैंने पूछा—क्या तुम इस में मेरी दवा करना चाहते हो।

उसने एक बच्चे की तरह बड़ी उत्सुकता-पूर्वक सिर हिला दिया। तब मैंने उसे आज्ञा दी—जाओ, और एक घन्टे के लिए अपने जहाज़ी कमरे में लेट रहो, सोना मत। जागने की चेष्टा करना, कुछ पढ़ते रहना, मैं पांच बजे व्यायाम शाला में तुमसे मिलूंगा, तब तुम्हें काफी देर तक गर्म सामुद्रिक जल से स्नान करना होगा। इसके बाद आध घन्टे का विश्राम होगा, तब हम भोजन के लिए कपड़े पहनेंगे। फिर हम रात में तूफानी डेक पर खुले आकाश के नीचे घूमेंगे। वहां, यदि तुम गिरोगे भी तो नीचे के डेक पर ही रह जाओगे। तब उसके बाद मदिरा और भोजन।

इसके बाद क्या हुआ यह पाठक अनुमान कर सकते हैं। दो दिन के भीतर ही वह जहाज के चारों ओर खुले घेरे से झुकने लगा, दृश्य देखने लगा, और उसने नीचे समुद्र के होने का विचार भी नहीं किया। उसने अपने जीवन की गाथा सुनाई। न्यूयार्क पहुंचने तक उसकी इन्द्रियां स्कूली बच्चे के समान स्वस्थ हो गईं, और मैं नहीं कह सकता, उसे फिर उपर्युक्त बातों की कष्ट-प्रद स्मृति हुई हो।

विचारणीय बात—लेखक कहता है कि "उस व्यक्ति और स्वर्गीय जज दोनों की दशा समान थी। दोनों की इन्द्रियां क्षुधा-पीड़ित थीं, उनको भोजन की आवश्यकता थी। दोनों ही अत्य-धिक कार्य से थके हुए थे। उनके मस्तिष्क उनके नौकर नहीं, स्वामी बन गए थे।

"वह व्यक्ति जो बड़ा धनी था, जिस समय सोने की चेष्टा करता था, उसका मस्तिष्क नगर की बातें सोचा करता था—'साढ़े चार की दर से दस हजार पौंड।' 'वहां का हिस्सा बेचकर यहां का खरीदो।' 'दस लाख पौंड न्यूयार्क भेजो और सबको थोक भाव में खरीद लो।' दोनों ही व्यक्ति एकान्त-जीवन बिताते थे। यदि न्यायाधीश मैककर्डी को पत्नी उन्हें बच्चों की शरारत, रसोइये तथा नौकर के झगड़े इत्यादि घरेलू बातों को सुनाती रहती, तो या तो मैककर्डी इन बातों को सुनकर प्रसन्न होते या ऊब जाते; पर अपने दिमाग़ को खाना तो वे बन्द कर देते। मस्तिष्क को अपने राह पर दौड़ने की स्वाधीनता न मिलती।

"बहुत दिनों से अनुभव करने के बाद, मैं इस तथ्य पर पहुंचा हूं कि जिसे हम 'आकस्मिक अविरोधी प्रेरणा' कहते हैं, वह वास्तव में आकस्मिक नहीं है। यह ऐसी बीमारी की बढ़ी हुई अवस्था है, जो हफ्तों, कई दिनों पहले से चेतावनी देती आई है। न्यायाधीश मैककर्डी को मालूम था कि वे नीरोग नहीं हैं। तर्क-शास्त्र के

पण्डित होने के कारण वे यह भी जानते रहे होंगे, कि इन्द्रियों की थकावट से ही वे शारीरिक-ह्रास का अनुभव कर रहे हैं और इसका प्रभाव उनके मस्तिष्क पर पड़ रहा है। तथापि वे अपना रोग संभालने में असफल रहे। उनके जैसा व्यक्ति कई दिशाओं में अपना जीवन बिताता है, और हर एक प्रकार का जीवन उनकी इन्द्रियों के श्रोत को चूसता रहता है। पर अनेक दिशाओं में विभक्त होने के कारण ऐसे उपाय भी अनेक थे जिनसे वे अपने को ताजा बना सकते थे। सबसे अधिक शान्तिदायक वस्तु संगीत थी, गाल्फ का खेल था, जो अपनी उत्तेजना में मनुष्य की अन्य उत्तेजनाओं को डुबा देता है। टहलना, घुड़सवारी तथा बच्चों का साथ था। अबोध बच्चे जीवन के विषय में वृद्धों से अधिक जानकारी रखते हैं। समुद्र ऐसे रोगियों के लिए बड़ा उपकार करता है। यात्रा के साथ दृश्य-परिवर्त्तन मस्तिष्क के तन्तुओं को शान्ति पहुंचाता है। सबके ऊपर गर्म तथा चमकता सूर्य हम सब का पिता है, जो थकी आत्माओं को शान्ति प्रदान करने से कभी मुँह नहीं मोड़ता। मैकफर्डी के विषय में कल, न्यायाधीश का फैसला था—'विक्षिप्त दशा में।' कोई इस फ़ैसले से न डरो। मस्तिष्क का स्वास्थ्य हमारे हाथ में हैं। सहचार, सुख और स्वच्छ वायु—मस्तिष्क को ठीक रखने की यही तीन महान् औषधि हैं। और—एकान्त में प्रार्थना और जप हमारी शान्ति का महान् साधन और उपाय है।"

कहना नहीं होगा कि उपर्युक्त विचारों में अनुभव-युक्त सच्चाई है, और मानसिक कारणों से अपराध करने वालों की चिकित्सा में इनसे बहुत सहायता मिल सकती है।

किसी प्रकार का अपराध कहां तक शारीरिक कारणों से होता है, और कहां तक मानसिक कारणों से, यह निश्चय करना भी कुछ दशाओं में बहुत कठिन है, अथवा यह कहा जा सकता है कि इसमें मनुष्यों के ज्ञान के अनुसार मत-भेद होना सम्भव है। साधारणतया आदमी काम-वासना या व्यभिचार को नैतिक अपराध मानते हैं। परन्तु काम विज्ञान की नई खोज से अब दूसरा ही सिद्धान्त प्रतिपादित किया जाता है। श्री सन्तराम जी बी० ए० ने 'आयुर्वेद ससार' में लिखा है कि देखने पर पता लगा है कि कामी-पुरुषों की प्रास्टेट नामक गिलटियां (Prostate glands) बढ़ी हुई होती हैं। इस कारण उनको बहुत अधिक कामोत्तेजना हुआ करती है। यदि आपरेशन द्वारा गिलटियों की वृद्धि को ठीक कर दिया जाय तो उनका यह रोग दूर हो जाता है। ऐसे लोगों को सदाचार सम्बन्धी नैतिक उपदेश कुछ भी लाभ नहीं पहुँचा सकते; हम इस विषय में कुछ अधिकार-पूर्वक नहीं कह सकते। किन्तु इसके मूल-भूत सिद्धान्त को मानने में हमें आपत्ति नहीं है। हां, हमारी धारणा है, कि काम वासना या व्यभिचार कुछ दशाओं में, कुछ सीमा तक मानसिक रोग भी है, जो अच्छे वातावरण और मनोविज्ञान युक्त नैतिक उपदेश आदि से कम हो सकता है।

साधारण अपराधी—कुछ अपराध-शास्त्रियों का मत है कि साधारण अपराधियों को धोखेबाजी या चोरी आदि के छोटे अपराधों के लिए कैद की अपेक्षा जुर्माने का दंड अच्छा है, अथवा, यदि वे गरीब हों तो उनसे श्रम कराया जाय। उनकी

परिस्थिति के अनुसार उनसे क्षति-पूर्ति करवाने, उन्हें शारीरिक दंड देने, अपने स्थान से बाहर न जाने देने, अथवा मेजिस्ट्रेट द्वारा डाट-डपट देने का उपयोग किया जा सकता है। अथवा यह हो सकता है कि उनका प्रथम अपराध क्षमा कर दिया जाय, परन्तु इस बात की हिदायत कर दी जाय कि दुबारा ऐसा अपराध करने पर यथेष्ट दंड मिलेगा।

गुरुतर अपराध करने वाला छोटा अपराधी उन्नत राज्यों में अनिश्चित काल के लिए किसी प्रतिष्ठित सज्जन की देख-रेख में रखा जाता है। वह उसे हर प्रकार से सुधारने का प्रयत्न करता है, उसे, करने के लिए यथा योग्य कार्य बताता है, उसके लिए व्यापार धंधा सीखने की व्यवस्था करता है, उसे कुसंगति से बचाता है, उसे अपना सुधार करने पर प्रोत्साहित तथा पुरस्कृत करता है और उसकी उन्नति की सूचना केन्द्रीय कार्यालय को देता है, जिसे यह निश्चय करना होता है कि उसे कितनी अवधि तक उक्त या अन्य किसी सज्जन की देख-भाल में रखना आवश्यक है, अथवा अभियुक्त के लिए कुछ और योजना करनी है। यह कार्य बहुत कठिन है, पर यथेष्ट उद्योग करने से इसमें अच्छी सफलता मिलती है।

बालिग अपराधी से भी कुछ अंश में बालकों का सा व्यवहार किया जाना चाहिये, उनकी चिकित्सा में नर्मी तथा कठोरता के सम्मिश्रण से काम लेना चाहिये, परन्तु नर्मी की मात्रा अधिक रहनी आवश्यक है, क्योंकि अपराधियों में प्रायः बदला लेनेकी

भावना होती है, और वे साधारण दंड को भी अन्याय और अत्याचार समझा करते हैं।

उनमें न्याय की भावना प्रबल करने के लिए उन्हें एक दूसरे के व्यवहार का निर्णायक बना देना उपयोगी होता है। इससे उनमें आत्म-सम्मान जागृत होता है, और वे अपने सुधार की ओर अधिक ध्यान देने लगते हैं। कभी कभी अपराधियों को ऐसी ऐसी बातें कहने का भी अच्छा परिणाम होता है, कि 'देखो, जैसा कार्य तुमने किया है, उससे तुम्हारा कुल कलंकित होता है, तुम्हारी जाति (या पेशे) वाले को ऐसा करना शोभा नहीं देता।'

मनोविज्ञान सम्बन्धी अन्यान्य बातों में यह भी स्मरण रखने की बात है कि मनुष्य कितने ही अपराध विशेष परिस्थितियों के वशीभूत होकर करते हैं। साधारणतया, उन्हें कुछ विशेष दशाओं में, कुछ विशेष कार्य करने की प्रवृत्ति होती है, इसे उनकी आदत कहा जा सकता है; जब विशेष कार्य को प्रेरक यह विशेष दशा बदल दी जाती है, तो उनकी वह आदत भी बदल जाना स्वाभाविक है। पुनः किसी विशेष दशा में एक कार्य करने के बजाय, उसे न करने की अपेक्षा कोई दूसरा कार्य करना सरल होता है। अथवा, यों कह सकते हैं कि किसी आदत को छोड़ देने की अपेक्षा उसे बदल देना आसान होता है। इसलिए जब मनुष्यों की कोई खास आदत बुरी मालूम पड़े तो उसे बदलाने का प्रयत्न करना चाहिये, और इसके लिए आवश्यक है कि जो बातें उनके सन्मार्ग पर

चलने में बाधक होती हैं, उनका सुधार किया जाय। इस कार्य में कानून की उपयोगिता बहुत परिमित ही होती है।

यह स्पष्ट है कि अपराधियों को किसी व्यक्ति या संस्था के निरीक्षण में रखने की अवधि निश्चित करना कुछ तर्क-संगत नहीं है। जब कि इसका लक्ष्य उसका सुधार करना है तो जितने भी समय में अभीष्ट-सिद्धि हो जाय, उतनी ही अवधि रखना ठीक है। सम्भव है न्यायाधीश का अनुमानित समय कुछ कम हो, या कुछ ज्यादह ही रहे। ऐसी दशा में समय को आवश्यकतानुसार बढ़ाना घटाना उपयोगी होगा। अस्तु, अपराधी के साथ जैसे और जितने व्यवहार की आवश्यकता हो, वह हो चुकने बाद, उसे परीक्षार्थ कुछ समय के लिए स्वतंत्र रूप से रहने देना चाहिये। हां, उसकी पर्याप्त देख-भाल होती रहनी आवश्यक है। उसे आजीविका प्राप्त करने और समाज में अन्य लोगों के साथ मिल-जुल कर जीवन व्यतीत करने की यथेष्ट सुविधाएं मिलनी चाहिये। यदि उसे अपराध-रूपी रोग का दौरा फिर हो, तो समझना चाहिये कि उसके इलाज में कमी रह गई है; उसकी पुनः ऊपर कही चिकित्सा करनी चाहिये। यदि कई बार चिकित्सा करने पर भी उद्देश्य सिद्ध न हो तो उसके रोग को असाध्य समझ कर, उसे सामाजिक जीवन से स्थाई रूप से पृथक् कर देना चाहिये, और उसके लिए वह व्यवस्था की जानी चाहिये जो, अभ्यस्त रोगियों के बारे में, आगे बताई जाती है।

अभ्यस्त अपराधी—जो व्यक्ति अभ्यस्त अपराधी मालूम हों, उनके मस्तिष्क आदि की यथेष्ट जांच की जाने की व्यवस्था होनी चाहिये, तदुपरान्त जो व्यक्ति निश्चित रूप से समाज के लिए भयंकर प्रतीत हों, जिनकी दशा असंदिग्ध रूप से असाध्य ज्ञात हो, जिनके शीघ्र सुधार की सम्भावना न हो, उन्हें उनके लिए स्थापित विशेष संस्थाओं के सुपुर्द कर देना चाहिये, चाहे उनका अपराध छोटा हो या बड़ा। इस प्रकार उनके पृथक् निवास की व्यवस्था होगी, और वे समाज को हानि पहुंचाने से रोके जायँगे। स्मरण रहे कि यह व्यवस्था समाज की रक्षा को ही लक्ष्य में रखकर की जानी चाहिये, अर्थात् उन्हें समाज से उस समय तक ही पृथक् रखा जाना चाहिये, जब तक कि उनकी बुरी आदतें न छूटें और चरित्र का सुधार न हो। जब किसी ऐसे व्यक्ति के विषय में यह निश्चय हो जाय कि अब यह समाज का कोई अहित न करेगा, वह उक्त व्यवस्था से मुक्त कर दिया जाना चाहिये।

अभ्यस्त अपराधियों की बस्ती किसी टापू या अन्य दूर-स्थित स्थानों में होनी चाहिये। ये अपराधी निरीक्षण में रहते हुए अच्छा कार्य कर सकते हैं, और इनके, समाज के लिए उपयोगी होने की सम्भावना रहती है।

वैज्ञानिक योजना का प्रयोग—क्या अपराध-रोग की समस्या को हल करने के लिए ऐसी वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग

की आशा की जा सकती है? यह तो स्पष्ट ही दीखता है कि निकट भविष्य में ऐसी योजना के व्यापक या पूर्ण-रूप से व्यवहृत होने की सम्भावना कम है। अधिक से अधिक यही आशा हो सकती है कि देश के कुछ चुने भागों में, प्रसिद्ध नगरों या कस्बों में, इस योजना को अंशतः चालू किया जाय। समय समय पर कोई उन्नत विचारों वाला ऐसा जज मिल सकता है, जो निर्धारित कानून की सर्वथा अवहेलना न करते हुए भी मुकद्दमे की पैरवी और उसके फैसले के सम्बन्ध में सुयोग्य चिकित्सकों और मनोविज्ञान-वेत्ताओं के परामर्श का भी विचार कर लिया करे। कुछ म्युनिसिपैलिटियां और कारपोरेशन आगे बढ़ कर ऐसी व्यवस्था कर सकती हैं कि अपराधियों की शारीरिक और मानसिक परीक्षा का प्रबन्ध करें, और इससे जो ज्ञान प्राप्त हो, उसका कुछ क्रियात्मक उपयोग करने लगें। कुछ जेलर या वार्डर (जेल के पहरुए) इस वैज्ञानिक पद्धति में विश्वास करने वाले मिल जायँ तो वे कैदियों के जीवन को यदि सुधार न सकें तो कम से कम उसे अधिक बिगड़ने से रोक सकते हैं। अपराध-शास्त्र की शिक्षा की उन्नति और प्रचार होने से समाज की मनोवृत्ति ऐसी हो सकती है कि अपराधियों को इस विषय के वैज्ञानिक विशेषज्ञों के सुपुर्द करने में अधिकाधिक लोकमत तैयार हो जाय, और समाज के रुख को देखकर, या समाज के अनुरोध से, राज्य अपराध-रोग के निवारण तथा चिकित्सा के लिए इस वैज्ञानिक पद्धति का अवलम्बन करे।

अपराधी संसार का भविष्य—इस प्रकार, वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए इस योजना के अंशतः अथवा खंड खंड ही प्रयुक्त होने की आशा की जा सकती है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या सुधार की धीमी गति पर्याप्त होगी। वर्तमान सभ्यता की पेचीदगी और प्रलोभन बढ़ते जा रहे हैं, इससे अपराधों की संख्या और मात्रा को उत्तेजना या प्रोत्साहन मिलना अनिवार्य है। यदि हमारी सुधार-क्रिया का प्रभाव, उसकी अपेक्षा अधिक हो तो भविष्य आशाजनक कहा जा सकता है। परन्तु यदि जनता के अज्ञान और आधुनिक दंड पद्धति के समर्थकों और प्रयोग करने वालों—वकीलों, जजों आदि की इस विषय में अनुदारता और अन्ध विश्वास ने अपराधों के निवारण और चिकित्सा के विषय में विज्ञान और बुद्धिमत्ता का मार्ग रोके रखा तो सामाजिक व्यवस्था अधिकाधिक बिगड़ती जायगी और समाज में अपराध करने वालों एवं अपराधों से कष्ट पाने वालों की उत्तरोत्तर वृद्धि होगी। भविष्य-निर्माण के लिए अपने उत्तर-दायित्व को जान कर भी क्या हमारे विचारवान बन्धु इस दिशा में अपना समुचित कर्तव्य पालन न करेंगे?

उपसंहार—दूसरों को प्रकट हो या न हो, संसार के प्रायः सब आदमियों की, एक अवस्था में झूठ, चोरी, बेईमानी, मार-पीट या बदमाशी आदि करने की प्रवृत्ति होती है। हां, कुछ में यह क्रमशः बढ़ती जाती है; और, कुछ में इस पर समुचित

नियंत्रण रहता है, अथवा इसका क्रमशः सुधार हो जाता है। किन कारणों से किसी व्यक्ति में अपराध करने की भावना जागृत होती है, और किन किन बातों से उसका प्रवाह दूसरी ओर हटाया जा सकता है, कौनसा उपाय किसी व्यक्ति की विशेष अवस्था के अनुकूल होगा, और कौनसा प्रतिकूल, इस पर बहुत ठंडे दिमाग से, और गम्भीरता-पूर्वक विचार करने की आवश्यकता है।

अपराधियों से, जो शुष्क ही नहीं, निर्दयता का व्यवहार हो रहा है, उसे देखने सुनने की हमें ऐसी आदत पड़ गई है, कि उस के विषय में अधिकांश आदमियों का कुछ स्वतंत्र चिन्तन करना कठिन है। जिन सज्जनों का वर्तमान दंड-विधान के प्रति अन्ध-विश्वास नहीं रहा है, जो इस की निरर्थकता समझ जाते हैं, वे भी प्रायः निराशा-पूर्वक कहने लगते हैं, 'तो फिर अपराधियों का क्या किया जाय ?' वे भूल जाते हैं कि इस से अधिक महत्व का प्रश्न यह है कि अपराध होते क्यों हैं, और माता-पिता तथा अध्यापकों द्वारा, समाज और राज्य द्वारा क्या क्या कार्य किया जाना चाहिये, जिससे किसी के अपराधी होने का यथा-सम्भव अवसर ही न आवे। वातावरण और परिस्थिति में यथेष्ट सुधार किए जाने की आवश्यकता है। अवश्य ही, इसके बाद भी अपराध-निर्मूल नहीं हो जायँगे, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि उस अवस्था में वे अत्यन्त कम होंगे।

उन थोड़े से अपराधियों की चिकित्सा करनी होगी, परन्तु उन्हें शत्रु समझ कर उनसे बदला लेने के लिए नहीं, वरन् रोगी, और अपना बन्धु मान कर, अपने सेवा-भाव का उपयोग करने के लिए। दंड के भय से नहीं, प्रेम और सहानुभूति से, प्रत्येक अपराध-रोगी की भिन्न भिन्न रुचि, परिस्थिति, आदि के अनुसार शरीर शास्त्र और मनोविज्ञान की सहायता से ही अपराध-चिकित्सा की जानी चाहिए। संसार में नये विचारों का प्रवाह तेज़ी से आ रहा है, आशा है इस महत्व-पूर्ण समस्या पर भी आदमी नवीन, तर्क-संगत और वैज्ञानिक दृष्टि कोण से विचार करेंगे, और मानव समाज का भविष्य सुन्दर तथा सुखमय बनाने में सहायक होंगे। शुभम्।

छटा परिच्छेद

—:o:—

अपराध चिकित्सा के सूत्र

इस पुस्तक में अपराध रोग के निदान, निवारण और चिकित्सा का विचार यथा-स्थान किया जा चुका है। अब संक्षेप में, सारांश-रूप, ध्यान दिए जाने योग्य आवश्यक बातों का उल्लेख करके इस विषय को समाप्त किया जाता है।

१—अपराध एक रोग है; और अपराधी एक रोगी है, उसका रोग अंशतः शारीरिक और अंशतः मानसिक है।

२—अपराध-रोगी की चिकित्सा के लिए आवश्यकता है सहानुभूति की, न कि दंड की; अस्पताल की, न कि जेल की; अनुभव और विवेक की, न कि कानूनी अन्ध-विश्वास और रूढ़ियों के पालन की।

३—अपराध-रोग की चिकित्सा से, इसका निवारण कहीं बेहतर है।

४—अपराध-रोग के निदान की ओर जितना अधिक ध्यान दिया जायगा, उतनी ही उसके निवारण और चिकित्सा में अधिक सफलता मिलेगी।

५—अपराध-रोग के कारण भिन्न भिन्न होते हैं। कुछ अपराध आनुवंशिक होते हैं। कुछ का कारण, अपराधी की शारीरिक या मानसिक स्थिति होती है। कुछ अपराध प्राकृतिक स्थिति वश किए जाते हैं।

६—भिन्न भिन्न देशों की आर्थिक, सामाजिक, या राजनैतिक परिस्थिति भी कुछ अपराधों के कीटाणुओं की वृद्धि और पालन पोषण में सहायक होती हैं।

७—धर्म सम्बन्धी अनुदार दृष्टि-कोण, असहिष्णुता, मत मतान्तर के भाव, और चाहे-जैसे अपने मतानुयाइयों की संख्या बढ़ाने की कामना भी भयंकर अपराधों का कारण होती है।

८—भौतिक सभ्यता, स्वार्थ-वाद, यह भाव कि मेरा हित हो,

फिर दूसरों की, या समाज की चाहे जो हानि हो, बहुत अनिष्ट-कर है। सभ्यता वहिर्मुख न होकर अन्तर्मुखी होनी चाहिये, मनुष्य आत्म-निरीक्षण करना सीखें।

९—अपराध बहुत-कुछ अपराधो की शिक्षा-दीक्षा वातावरण पर निर्भर होते हैं। शिक्षा-दीक्षा के लिए प्रायः माता-पिता और शिक्षक, तथा वातावरण के लिए विशेषतया समाज और राज्य उत्तरदायी हैं।

१०—मनुष्य की शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति का समुचित प्रबन्ध रहना चाहिये, उसे भोजन वस्त्र विश्राम, मनोरंजन आदि के साधन न मिलेंगे तो वह अपराध करने की ओर प्रवृत होगा।

११—लोगों को अपने विषय-वासनाओं पर नियंत्रण रखने का अभ्यास करना चाहिये, तथा समाज और राज्य को चाहिये, कि इस दिशा में यथेष्ट सहायक हों।

१२—धर्माचार्यों को चाहिये कि 'आत्मवत् सर्व भूतेषु', और 'वसुधैव कुटम्बकम्' का उपदेश दें, अपनी वाणी से ही नहीं, अपने व्यवहार और दैनिक जीवन से भी। उनका बल जनता का अन्ध-विश्वास नहीं, ज्ञान और विवेक होना चाहिये।

१३—प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श 'विश्व बन्धुत्व,' और 'विश्व-नागारिकता' होना चाहिये। ऊंच-नीच धनी-निर्धन, काले गोरे, हिन्दुस्तानी अङ्गरेज, एशियाई और योरपियन आदि का भेद-भाव न होना चाहिये।

१४—अपराध निवारण सम्बन्धी भरसक उपाय करने पर भी कुछ व्यक्ति अपराधी पाए जायँगे; उनकी भिन्न-भिन्न रुचि, प्रकृति, स्थिति आदि का ध्यान रखते हुए, शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान के विकसित सिद्धान्तों के अनुसार इलाज किया जाना चाहिये।

१५—अपराधी संस्थाओं का लक्ष्य दंड देना न होकर, अपराधियों का सुधार होना चाहिये। जिन अपराधियों के सुधार की सम्भावना न हो, तथा जिनसे दूसरों को हानि होते रहने की आशंका हो, उन्हें समाज से पृथक् एकान्त में रखने की व्यवस्था की जानी चाहिये।

१६—यदि स्वार्थ-त्यागी और परोपकारी साधु सन्त महात्मा और महापुरुष अपराधी क़रार दिये जाते हैं, तो समझ लेना चाहिये कि समाज और राज्य की व्यवस्था में कोई मौलिक दोष है, उसे दूर करने का अविलम्ब प्रयत्न किया जाना चाहिये।

१७—समाज अपने रीति-रस्म, व्यवहार को, तथा राज्य अपने कानूनों को समय समय पर तर्क, विवेक, और मनोविज्ञान की कसौटी पर कसता रहे, और उनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन और संशोधन करता रहे।

१८—समस्त प्राप्त ज्ञान और अनुभव का उपयोग मानव-समाज की सुख स्मृद्धि बढ़ाने में होना चाहिये, इसलिए अपराध-निवारण और अपराध-चिकित्सा के लिए यथेष्ट विचार-पूर्वक आयोजन होना चाहिये।

स्वर्गीय पंडित बलराम दुबे जी के प्रति

श्रद्धाञ्जलि

पूज्यवर ! कितने ही बार आप के शुभ दर्शन हुए, कई कई दिन नहीं, कई कई सप्ताह आपके सत्संग में रहने का सुअवसर मिला। आपकी तेजोमयी आकृति, नेत्रों के सन्मुख बनी है। आप की स्मृति को मैं पुण्य कृत्य ही मानता हूं।

बहुधा गुरुजनों से, बालक कुछ डरते से रहा करते हैं; मैं भी वड़े बूढ़ों, विशेषतया बहुत पूजा-पाठ और जप-तप ज्ञान-ध्यान करने वाले कर्मकांडियों से कुछ दूर दूर रहना पसन्द करता हूं। जो व्यक्ति सुखोपभोग के लिए यथेष्ट अर्थ-सम्पन्न होते हुए भी सर्दी हो या गर्मी, नित्य डेढ़ दो घंटे रात रहे उठे, और अपनी आयु तथा शरीर का कुछ विचार न करते हुए, जाड़ा या वर्षा होते हुए भी गंगा-स्नान को जाए, और घटों पूजा-पाठ करे, और फिर लौटते हुए धूप और गर्मी के प्रभाव को अपने ही भजनों में भुला दिया करे, और जिसके घर पर 'आज अमुक व्रत है, आज अमुक निमित्त से ब्राह्मण-भोजन है, आज इतना पूजा-पाठ विशेष रूप से होगा, गत वर्ष अमुक तीर्थ तो हो गया, इस वर्ष में अमुक अमुक स्थान में दर्शनों के लिए जाना है', नित्य इसी तरह की चर्चा रहे, उसके पास ठहरने में मुझे आशंका होती है, कि कहीं मेरी कोई कृति या वाक्य उस वातावरण के प्रतिकूल न हो जाय, वह दूसरे को अखरने वाला न हो। पर मुझे संतोष और प्रसन्नता है कि आप की सदाशयता और स्नेह-भाव से, मुझे उपर्युक्त विषय की चिन्ता करने का कभी अवसर न आया। इसके विपरीत समय समय पर आपने तो मुझे ऐसे आदर-भाव से सम्बोधित किया कि मैं लज्जित—सा रह गया। गुरु-जनों से, पितृवत् पूज्यवरों से, स्नेह भाव की प्राप्ति कौन नहीं चाहता ! पर आप के आदर-सत्कार से तो मैं ने अपने आप को बहुत दबा हुआ सा

अनुभव किया। बहुधा बड़े बूढ़े दूसरे प्रत्येक व्यक्ति से आदर सम्मान पाने के इच्छुक रहा करते हैं, पर आपने इस सम्बन्ध में लेने की बात छोड़ कर, देने का ही उदाहरण उपस्थित किया। यह बात कैसी शिक्षाप्रद है !

मैंने आप को बहुत कुछ पुराने रंग ढङ्ग से रहने वाले, और प्राचीनता के पुजारी के रूप में देखा, तो समय समय पर उसमें नवीनता की भी झलक पायी। दान धर्म या सहायता करते समय आपका दृष्टि-कोण नितान्त एकांगी न रहा। और, आपने कर्म-कांड और पूजा-पाठ में तथा भारतवर्ष के दूर दूर के स्थानों की तीर्थ यात्रा करने में जो श्रद्धा, त्याग और कष्ट-सहन का परिचय दिया, इस गुणत्रयी के लिए तो, मन में आदर के सिवाय और क्या हो सकता है ! समाज और देश को; नहीं नहीं, मानव जाति के प्रत्येक सेवक और शुभाकांक्षी को वर्तमान काल में इन सद्‌गुणों की कितनी आवश्यकता है !

मुझे आप के सम्पर्क में आने का प्रसंग, आपके सुपुत्र, श्री० दयाशंकर जी के कारण, आया। उनका खास विषय अर्थशास्त्र होने से, और मेरी भी अर्थशास्त्र और राजनीति विषय की थोड़ी बहुत लगन होने से मेरा उनका पारस्परिक अनुराग होना स्वाभाविक था; स्वाभाविक नहीं था, तो यह कि आप का भी मेरे प्रति यह स्नेह-भाव हो। इस अस्वाभाविक बात को आपने स्वाभाविक बना दिया। आप की यह उदारता चिरस्मरणीय है।

श्री० दुबे जी अर्थशास्त्र के विद्वान हैं, यह ज्ञान आपने उनको औरों से दिलाया है, और धर्म का ज्ञान आपने स्वयं अपनी ओर से अपने उदाहरण से उन्हें विरासत में दिया है। धर्म और अर्थ के इस सुन्दर सम्मिश्रण से युक्त मित्रवर श्री० दुबे जी ही आज दिन आपका प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, इनके द्वारा आपकी, शुभकर्म-जनित सुख्याति निरन्तर बढ़ती रहे। शुभम्।

विनीत

भगवानदास केला